उपनिषदों की शिक्षा

पं० राजाराम प्रोफ़ैसर डी.ए.वी.
कालेज, लाहौर प्रणीत ।

संवत् १६८१ वि०, सन् १६२४ ई० ।

बाम्बे मैशीन प्रेस मोहन लाल रोड लाहौर में मैनेजर
शरत्चन्द्र लखनपाल के अधिकार से छपा ।

दूसरी बार ११००] [मूल्य २।)

विषय सूची।

पहिला अध्याय—(ब्रह्म के वर्णन में)

दूसरा अध्याय
(आत्मा के वर्णन में)

तीसरा (अध्याय)

(पुनर्जन्म के वर्णन में)

चौथा अध्याय

(मरने के पीछे की अवस्थाओं के वर्णन में)

पांचवां अध्याय

(कर्म और चरित के वर्णन में)

छटा अध्याय

(सामाजिक जीवन के वर्णन में)

सातवां अध्याय

(उपासना और उस के फल के वर्णन में)

आठवां अध्याय

(मुक्ति के वर्णन में)

* ओ३म *

भूमिका।

इस ग्रन्थ के लिखने की आवश्यकता

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक, यह दस उपनिषदें हैं, जिन पर स्वामी शंकराचार्य ने भाष्य किया है, और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पठन पाठन के ग्रन्थों में स्थान दिया है। वास्तव में अध्यात्मविद्या का ऐसा पूरा वर्णन और कहीं नहीं पाया जाता, जैसा कि इन उपनिषदों में हुआ है। हम क्या हैं? हमारा भविष्यत् क्या है? और उसके लिये हमारा कर्तव्य क्या है? किस तरह हम अपने आत्मा और परमात्मा के साक्षात् दर्शन कर सके हैं? इत्यादि विचार, जो एक धार्मिक-प्रकृति पुरुष के हृदय में स्वभावतः उत्पन्न होते हैं, उनका शान्तिदायक उत्तर इन प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है। इन से पीछे के सारे ग्रन्थों में इनका रंग चढ़ा हुआ प्रतीत होता है। 'और ऐसा कौन है, जो आजकल भी प्राचीनकाल के इन शुद्ध प्रश्नों और पवित्र विचारों को पढ़कर अपने हृदय में नए भावों का उदय न अनुभव करता हो, अपनी आंखों के सामने नया प्रकाश न पाता हो'। जैसी कि इन शुद्ध आर्ष विचारों की प्रतिष्ठा थी, वैसे ही इन को समझने के लिये बड़े २ उद्योग भी किये गए हैं। केवल इन पवित्र विचारों का यथार्थ अभि-

प्राय प्रकट करने के लिये भगवान् व्यास ने एक पूरा दर्शन रचा है, जिसका नाम वेदान्त दर्शन, ब्रह्मसूत्र, ब्रह्ममीमांसा, अथवा उत्तरमीमांसा है। इस दर्शन पर बहुत से भाष्य और टीकाएं हैं, जिनमें से बहुत से छप भी गए हैं। इन सब में जो सब से प्रतिष्ठित भाष्य इस समय है, वह श्री शंकराचार्य का भाष्य है। इस भाष्य पर कई एक और उत्तम टीकाओं से बहुत आगे बढ़ी हुई वाचस्पतिमिश्र की भामती है। भामती के ऊपर एक और टीका कल्पतरु नामी अमलानन्द की बनाई हुई है। और कल्पतरु पर फिर एक और टीका कल्पतरु परिमल है, जो अप्पय दीक्षित ने रची है। यह ग्रन्थ बड़े २ धुरन्धर विद्वानों के हाथों से निकले हैं, और टीकाएं भी बहुत सी अच्छी अच्छी योग्यता की हैं। इन सब में उपनिषदों के वाक्यों का युक्तियुक्त और सविस्तर विचार है। फिर इनके सिवाय साक्षात् भी उपनिषदों पर बहुत से भाष्य और टीकाएं हैं, जिन में से श्रीशंकराचार्य का भाष्य बहुत बड़ा है और बहुत बढ़ कर ही आदरणीय भी हुआ है। फ़ारसी में इन का उल्था दाराशिकोह ने बहुत बड़े परिश्रम से करवाया था, जिसका नाम सेरें अकबर है। योरुप में जब से इन ग्रन्थों का पता लगा है, तब से वहां की सारी भाषाओं में बराबर नए २ उल्थे हो रहे हैं, और परिश्रम से किये जाते हैं। पर दूसरी ओर यद्यपि यह ग्रन्थ हमारे देश के हैं, हमारे पूर्वजों के है, हमारे हैं, हमारा इन से गौरव है, तथापि अभी तक इन सबका

कोई स्वतन्त्र अनुवाद* हमारी भाषा में नहीं हुआ है। इस इतनी बड़ी न्यूनता का पूरा करना मुझ से अधिक अनुभवी और विज्ञ विद्वानों का काम होना चाहिये था, पर जब किसी दूसरे को इधर झुकते नहीं देखा, और मुझे अपने बड़ों के तथा संस्कृत विद्या के प्रेम ने बलात् से अपनी ओर झुका लिया, तो अब रुकना मेरे अधीन नहीं रहा। हमारे बड़ों के विचार हमारे लिये (हमारी भाषा में) होने चाहियें, इसके लिये मेरा उद्योग है और यह आर्षग्रन्थावलि उसका फल है। इस ग्रन्थावलि में मैंने इन माननीय उपनिषदों का उल्था पहले कर दिया है। और अब यहां उनके सिद्धान्तों पर विचार प्रकट करने का उद्योग है। उल्था करने से पहले जैसाकि उचित था, मैंने उन ग्रन्थों को ध्यान से देखा है, जो उपनिषदों पर भाष्य वा टीका के तौर पर वा उनके सिद्धान्तों पर विचार करने के लिये लिखे गए हैं। और उनमें से कदाचित् ही कोई ग्रन्थ मुझ से छूटा हो। पर इन सब की सहायता लेकर भी यह उल्था स्वतन्त्र है। मैंने उपनिषदों को यथाशक्य उपनिषदों से ही समझा है। इसलिये जहां कहीं उन पहली टीकाओं से भेद भी है, वहां सोच समझ कर है। तथापि दूसरी व्याख्याएं प्रायः टिप्पणी में दे दी हैं। मैंने इस धोके से अपने आपको बचाया है, कि मैं किसी ग्रन्थ को

---

* स्वामी शङ्कराचार्य के भाष्य की भाषा स्वामी अच्युतानन्द जी सरस्वती और पण्डित पीताम्बर जोषी ने की है और कुछ एक उपनिषदों पर कई विद्वानों ने कुछ थोड़ासा स्वतन्त्र उद्योग भी किया है॥

इतना तङ्ग करूं, कि जो कुछ मैं मानता हूं; वही सब कुछ उस से बुलवाऊं। मैंने इस पर पूरा ध्यान रक्खा है, कि जो कुछ ग्रन्थ कहता है उसको प्रकट करूं, और यही उल्था करने वाले का काम भी है। इसलिये, यद्यपि यह ग्रन्थ मुझे प्रायः माननीय हैं, तथापि यह आवश्यक नहीं, कि उनकी हर एक बात मेरा निजका सिद्धान्त भी हो। मेरा भरोसा "सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः" (ऋग् १०।३७।२) पर है॥

सो इस प्रकार दसों उपनिषदों का ठीक २ उल्था हो जाने के पीछे अब यह ग्रन्थ उनके सिद्धान्तों पर विचार का है। उपनिषदों के जो सिद्धान्त इस ग्रन्थ में दिखलाए हैं, साथ ही साथ उसी विषय के यथाशक्य वेदमन्त्र भी दिखलाए गए हैं, और दूसरे ग्रन्थों के प्रमाण भी दिये गये हैं। प्रायः प्रमाण और उन पर व्याख्यान संक्षेप से लिखे हैं, पर जहां अधिक समझाने की आवश्यकता हुई, वहां विस्तार किया गया है। इसको पढ़ कर उपनिषदों का पढ़ना अवश्य आसान हो जायगा। पर यह भूलना नहीं चाहिये, कि उपनिषद् उपनिषद् हैं। उनके लिये अन्त में यही कहना होता है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत ॥

* ओ३म् *

उपनिषदों की शिक्षा

पहला अध्याय—(ब्रह्म के वर्णन में)

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् (मुण्ड० १ । २ । ११) ॥

पर और अपरब्रह्म — एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म, यदोङ्कारः; तस्माद् विद्वानेतेनैकतर मन्वेति (प्र० ५ । २)

[पिप्पलादऋषि का सत्यकाम के प्रति उपदेश] हे सत्यकाम ! यह सचमुच पर और अपर ब्रह्म है, जो ओंकार है * । इसलिये वह, जो इसको जानता है, वह केवल इसी सहारे से दोनों (पर और अपर) में से एक को पा लेता है ॥

---

* ओंकार, पर और अपरब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। क्योंकि यह अपने उपासक को अपरब्रह्म की प्राप्ति द्वारा पर ब्रह्म तक पहुंचाता है। और यह साधन पर और अपरब्रह्म की प्राप्ति का असंदिग्ध साधन है, इसलिये ऐसे ज़ोर से कहा है, कि 'यह सचमुच पर और अपरब्रह्म है, जो ओंकार

उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप दो प्रकार से दिखलाया है-एक सापेक्ष और दूसरा निरपेक्ष । सापेक्ष वह स्वरूप है, जो बाहर के सम्बन्ध से वर्णन किया जाता है, और निरपेक्ष वह है, जिस के वर्णन में किसी बाहरी सम्बन्ध का कोई सहारा न हो ॥

सापेक्ष-ब्रह्म सर्वज्ञ है, यह क्यों कहा जाता है ? इस लिये कि उससे भिन्न और भी पदार्थ हैं, जिन सब को वह जानता है । यदि उससे भिन्न और कोई पदार्थ न होता, तो उसके लिये सर्वज्ञ कहना कोई अर्थ न रखता । जैसे पिता, पुत्र के सम्बन्ध से पिता कहलाता है, यदि पुत्र ही नहीं, तो पिता किसका ? इसी प्रकार सर्व के सम्बन्ध से वह सर्वज्ञ कहलाता है, यदि सर्व न हो, तो सर्वज्ञ कैसा ? यही सापेक्ष स्वरूप है, इसी को अपरब्रह्म या अवरब्रह्म अथवा शबलब्रह्म कहते हैं ॥

निरपेक्ष-ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, ऐसा कहने में कोई बाहर का

है ।' जहां कहीं सच्चे साधन पर बल देने की आवश्यकता होती है, वहां उसे साधन न कह कर साध्य के साथ एकरूप बना देते हैं, जैसे—'आयुर्वै घृतम्' यह सचमुच आयु है, जो घी है । तात्पर्य यह है, कि घी से आयु बढ़ती है, इसमें तनिक संदेह नहीं । इसी प्रकार ऊपर के वचन का यह अभिप्राय है, कि ओंकार पर और अपरब्रह्म की प्राप्ति का सच्चा साधन है, इसमें तनिक संदेह नहीं ॥

सहारा नहीं लिया गया है, यह उसका अपना स्वरूप है। यदि और कुछ न होता, तो भी उसका स्वरूप यही था (यद्यपि उस अवस्था में न यह वाक्य और न इसका कोई कहने वाला होता) यही निरपेक्षस्वरूप है। इसी को परब्रह्म, शुद्धब्रह्म अथवा श्यामब्रह्म कहते हैं॥

ब्रह्म के वर्णन का यह प्रकार उपनिषदों में वही है, जो इस ऋचा में दिखलाया है—

एतवानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्चपूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि॥

(ऋ० १०। ९०। ३)

इतनी बड़ी (अर्थात् भूत भविष्यत् और वर्तमान काल से सम्बद्ध जितना जगत है यह सारी) इस (पुरुष) की महिमा है, और पुरुष (स्वयं) इससे बड़ा है। (तीनों काल में होने वाले) सारे भूत इसका एक पाद है और इसका (शेष) त्रिपाद् जो अमृत (अविनाशी) स्वरूप है, वह अपने प्रकाश में है॥ (यद्यपि अनन्त ब्रह्म की कोई इयत्ता (हद) न होने से उसके चार पाद नहीं कहे जा सकते, तथापि यह जगत् ब्रह्म के स्वरूप की अपेक्षा बहुत छोटा है; इस अभिप्राय से पाद कल्पना किये हैं)

यहां शबल महिमा को छोटा और शुद्धस्वरूप को उस से बड़ा वर्णन किया है॥

यद्यपि सापेक्ष धर्म उसमें दूसरे की अपेक्षा से कहे

जाते हैं, पर हैं यह भी अनादि। अनादि से यह सर्वज्ञ है, और अनादि से अन्तर्यामी है। क्योंकि जिनको वह जानता है, और जिनके वह अन्दर है, वे भी उसके साथ सदा से वर्तमान हैं॥

अब इसके आगे दोनों स्वरूपों को लक्ष्य में रखकर उस का स्वरूप वर्णन किया जायगा, तथापि विशेषतया पहिले शबल और पीछे शुद्ध का वर्णन आयगा॥

ब्रह्म सर्व-शक्ति है

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः
सर्वमिद मभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ।

(छान्दो० उप० ३ । १४ । ४)

सारे कर्म, सारी कामनाएं, सारे गन्ध, सारे रस उस के हैं। वह इस सबको घेरे हुए है, वह कभी बोलता नहीं है, वह बेपरवाह है॥

यह जगत्, जिसका जल, स्थल, और वायुमण्डल सारा जीवित सृष्टि से भरपूर हो रहा है, और हर एक प्राणधारी अपने २ स्थान के योग्य शरीर और इन्द्रियों को रखता है। यह इतनी अनन्त सृष्टि है, जो हमारे चिन्तन में भी नहीं आ-सकती। इनमें से एक भी शरीर रचना का रूप मन से अचिन्त-नीय है। अब जिसने यह विचित्र रचना की है, और इतनी अथाह रचना की है, जिसका कोई पारावार नहीं, और फिर वह सारी रचना उस एक अद्वितीय ने स्वयं की है, तो फिर इसमें क्या संदेह रहता है, कि वह बड़ा विचित्र शक्ति है और सर्वशक्ति है। यही बात 'सर्वकर्मा' इससे और इसके अगले

शब्दों से प्रकट की है। वह बेपरवाह है-उसको अपनी सहायता के किसी की आवश्यकता नहीं, अपने से भिन्न किसी दूसरे की सहायता तो दूर है, किन्तु उसे अपने काम करने के लिये शरीर और इन्द्रियों की भी ज़रूरत नहीं, क्योंकि उसकी स्वाभाविक शक्ति सब से बड़ी है, और बड़ी विचित्र है-

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

(श्वेता० उप० ६।८)

न उसका शरीर और इन्द्रियें हैं। न उसके कोई बराबर और न उससे कोई अधिक दीखता है। उसकी शक्ति निःसंदेह सब से ऊंची है और अनेक प्रकार की है, और वह शक्ति ज्ञान की और बल की क्रिया है, जो उसमें स्वाभाविक है॥

ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोही मुख्य शक्तियें हैं; और सारी शक्तियां इन्हीं के अवान्तरभेद हैं। और यह दोनों उस में विद्यमान हैं, वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है और सर्वज्ञ है, और सारे कर्म उसके बल (प्रयत्न) के आश्रित हैं। 'हुक्म बिना झूले नहीं पाता'। उसकी महिमा का प्रकाश इस जगत् में विचित्ररूप से हो रहा है, अनन्तरूप से हो रहा है, और समस्तरूपों से हो रहा है, अतएव वह स्वयं विचित्रशक्ति है, अनन्तशक्ति है, और सर्वशक्ति है॥

ब्रह्मसूत्रों में यह विषय इस प्रकार वर्णन किया है॥

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् (२ । १ । ३०)

अर्थ—वह (परा देवता) सारी शक्तियों से युक्त है, क्योंकि (श्रुति में उसका वर्णन ऐसा) देखा जाता है ॥

व्याख्या-'सत्यसंकल्पः' वह सत्यसंकल्प है (छान्दो० उप० ३ । १४ । १)

'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' जो सबको जानता है, और सबको समझता है (मुण्ड० १ । ९) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इस अक्षर के प्रशासन (ज़बरदस्त हुक्म) में हे गार्गि ! सूर्य और चन्द्रमा अपनी मर्यादा में खड़े हैं । (बृह० ३ । ८ । ९) इस प्रकार की श्रुतियें दिखलाती हैं, कि परादेवता में सारी शक्तियों का सम्बन्ध है ।

विकरणत्वान्नेतिचेत् तदुक्तम् (२ । १ । ३१)

अर्थ-क्योंकि उसके इन्द्रिय नहीं है, इसलिये वह (देवता सारी शक्तियों वाली) नहीं हो सकती, यदि ऐसा कहो, तो इसका उत्तर कहा हुआ है ॥

व्याख्या-(प्रश्न) मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों से जानता है, और कर्मेन्द्रियों से कर्म करता है । इन दोनों प्रकार के इन्द्रियों के बिना चेतन आत्मा न जान सकता है, न ही कर्म कर सकता है । इसी प्रकार परादेवता भी चेतन है और आत्मा है । उसको जानने के लिये ज्ञानेन्द्रियों की और कर्म करने के

लिये कर्मेन्द्रियों की अवश्य ज़रूरत है। पर उपनिषद् बतलाती है, कि—

अचक्षुष्कम श्रोत्रमवागमनाः (बृह० ३।८)

उसका न नेत्र है, न श्रोत्र है, न वाणी है, न मन है॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते (श्वेता० ६।८)

न उसका शरीर है, न कोई इन्द्रिय है॥

सो जब उसके इन्द्रिय ही कोई नहीं, तो वह सर्वशक्ति-युक्त होकर भी किस तरह किसीकाम के समर्थ हो सकता है॥

(उत्तर) इसका उत्तर भी उपनिषद् में पूरा खोलकर देदिया है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्य कर्णः (श्वेता० ३।१९)

उसके पाओं नहीं, पर वह बड़े वेग वाला है (सब जगह पहुंचा हुआ है) उसके हाथ नहीं, पर वह सब को पकड़े हुए हैं, उसके नेत्र नहीं, पर वह सब कुछ देखता है, उसके कान नहीं, पर वह सब कुछ सुनता है॥

इस प्रकार यह श्रुति इन्द्रियों से रहित ब्रह्म में भी सारी शक्तियों का सम्बन्ध दिखलाती है। और फिर यह नियम नहीं है, कि जैसा एक का सामर्थ्य है, वैसा ही दूसरे का भी हो। सो यद्यपि हम इन्द्रियों के विना काम नहीं कर सकते, तथापि परमात्मा कर सकता है, वह इनकी परवाह नहीं रखता।

पर वास्तव में तो हमें भी किसी दूसरी वस्तु को हिलाने के लिये हाथ की आवश्यकता है, पर अपने हाथ को हिलाने के लिये किसी दूसरे हाथ की आवश्यकता नहीं। यह आत्मा की निजशक्ति से हिलसकता है, क्योंकि आत्मा उसके अन्दर सीधे तौर पर काम कर सकता है। इसी प्रकार परमात्मा हर एक पदार्थ के अन्दर व्याप्त हुआ सीधे तौर पर उसमें क्रिया उत्पन्न कर सकता है, उसको किसी इन्द्रिय की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि उसको किसी ऐसी जगह पर काम नहीं करना है, जहां वह आत्मा के तौर पर आप विद्यमान नहीं है। इसलिये वह सर्वशक्ति निःसंदेह बिना इन्द्रियों के सारे काम करने के समर्थ है॥

किञ्च-क्योंकि उसकी शक्ति के सहारे पर सारी शक्तियें काम करती हैं, इसलिये वह सर्वशक्ति है*

ब्रह्म सर्वशक्ति है यह विषय मन्त्रों में भी पाया जाता है। जैसे यहां सर्वकर्मा उसका विशेषण है, वैसे ही ऋग्वेद में विश्वकर्मा उसका नाम है। ऋग्वेद के दो सूक्त १०।८१ और ८२, जो विश्वकर्मा की महिमा में हैं, वहां १०।८२।२ के अन्दर हम देखते हैं, कि विश्वकर्मा पुँल्लिङ्ग है (पुरुषरूप में वर्णन किया है) और उसके विशेषण 'विमनाः, विहायाः, धाता, विधाता, और सन्दृक्, ये भी पुँल्लिङ्ग हैं, पर इनके भीतर 'परमा' यह एक विशेषण स्त्रीलिङ्ग पड़ा है। यह अकेला

---

* देखो 'ब्रह्म सब को शक्ति देरहा है' यह विषय—पृष्ठ १६ पर है।

स्त्रीलिङ्ग क्यों है ? दूसरे शब्दों की तरह 'परमः' इस भान्ति यह भी पुँल्लिङ्ग हो सकता था । विश्वकर्मा के पुँल्लिङ्ग विशेषणों के भीतर एक स्त्रीलिङ्ग विशेषण का आना प्रकट करता है, कि विश्वकर्मा जो धाता, विधाता है, यह एक शक्ति है, जो सब से ऊंची (परमा) है, यह सारा विश्व उसी एक शक्ति से प्रकाशित है । जैसा कि ऋग्वेद १० । १२५ *का सारा सूक्त उसको इसी रूप में वर्णन करता है । वह स्वयं सर्वशक्ति है, और सबको शक्ति दे रहा है, परमात्मा की इस महिमा का वर्णन मन्त्रों में और भी कई जगह कई प्रकार से हुआ है—

यस्मादिन्द्राद् बृहतः किंचनेमृते विश्वा-न्यस्मिन् सम्भृता ऽधि वीर्या । जठरे सोमं तन्वि सहो महो हस्ते वज्रं भरति शीर्षणि क्रतुम् (ऋग्० २ । १६ । २)

वह महान् इन्द्र, जिसके बिना कोई हस्ती नहीं रह सकती, सारी वीरता की शक्तियें इसमें भरी हुई हैं, वह जठर में सोम, शरीर में बड़ा साहस, हाथ में वज्र, और सिर में दानाई रखता है ॥

---

* वेदोपदेश में १० । ८१; ८२; १२५ यह तीनों सूक्त व्याख्या किये गये हैं ॥

ब्रह्म सबको शक्ति देरहा है

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत
श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः।
ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम्
(बृह० उप० ४।४।१८)

वह, जो उसको प्राण का प्राण, नेत्र का नेत्र, श्रोत्र का श्रोत्र और मन का मन जानते हैं * उन्होंने उस ब्रह्म को पहचाना है, जो पुराना है और सब से श्रेष्ठ है † ॥

---

* मिलाओ केन० उप० १।२

† जगत् में हम देखते हैं, कि सौन्दर्य्य नयेपन में है। ज्यूं ही कोई वस्तु पुरानी होती है, तो वह अपना सौन्दर्य्य, अपनी श्रेष्ठता, खो देती है, पर ब्रह्म में आकर यह दोनों बातें अपना विरोध छोड़ बैठी हैं। वह पुराना है, तथापि सब से श्रेष्ठ है। जो उसे एक वार भी देख लेता है, उसकी बाह्य विषयों से तृष्णा मिट जाती है, क्योंकि वह इतना सुन्दर और मधुर है, कि उसके सौन्दर्य्य और माधुर्य के सामने सब कुछ मात हो जाता है। जिसने उस पुराण पुरुष को देख लिया है, उसे अब बाहर के विषय मोहित कर सकें, यह बात तो बहुत दूर की है, अपितु उनकी वासना ही उसके अन्दर से मिट जाती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ (गीता० २।५९)

'प्राण का प्राण, नेत्र का नेत्र, श्रोत्र का श्रोत्र और मन का मन' ऐसा कहने में उपनिषद् का क्या अभिप्राय है? जैसे एक अधीन (सामन्त) राजा के ऊपर दूसरा राजाधिराज (सम्राट्) होता है, ब्रह्म इस तरह प्राण का प्राण और नेत्र का नेत्र नहीं है। वह इस प्राण के ऊपर एक ही वैसा दूसरा प्राण हो, यह नहीं है, तथापि उपनिषद् उसे प्राण का प्राण बतलाती है। यह क्यों? इस लिए, कि प्राण में जो प्राणपन है, यह ब्रह्म के सहारे है। प्राण हमें जीवन देता है, और ब्रह्म उसे जीवन देने की शक्ति देता है। प्राण की तरह सारा ही जगत् उसी से शक्ति लाभ कर रहा है। यह जगत् उसके बिना ऐसा ही है, जैसे आत्मा के बिना देह। बेशक आंख देखती है, जो बिना आंख के है, वह देख नहीं सकता, पर आंख को भी अपनी शक्ति प्रकाश करने के लिये दूसरे प्रकाश (सूर्य आदि) की अपेक्षा है। जब तक बाहर कोई प्रकाश न हो, आंख देख नहीं सकती। अन्धेरे में देखने वाले और न देखने वाले की एक सी गति होती है। इसी प्रकार यह महान् सूर्य, जो इस त्रिलोकी को प्रकाशित कर रहा है, उस परमात्मा से प्रकाशित होकर प्रकाशित कर रहा है। सूर्य हमारी आंख को छोड़कर चल देता है, इसलिये हमें निश्चय हो जाता है, कि आंख सूर्य

निराहार (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यह विषय इन्द्रियों का आहार हैं, इस आहार से रहित) पुरुष के विषय यद्यपि निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु इससे उनका रस (अन्दर जो सूक्ष्म राग है) वह निवृत्त नहीं होता। पर हां परमात्मा को देख कर इसका रस (सूक्ष्मराग) भी निवृत्त हो जाता है॥

के बिना नहीं देख सकती। पर परमात्मा सूर्य को अकेला नहीं छोड़ते, इसलिये हम यह नहीं जान पाते, कि सूर्य उनके बिना अन्धेरा है। है तो यही, कि सूर्य उनके बिना अन्धेरा है, पर इसका अनुभव करना कठिन है। इस रहस्य का मर्म समझाने के लिए केन उपनिषद् की यह कल्पना कैसी मनोरञ्जक है—

ब्रह्म ह देवभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त । त ऐक्षन्त 'अस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति' ॥१॥

तद्धैषां विजज्ञौ । तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव । तन्नव्यजानत, किमिदं यक्षमिति ॥ २ ॥

तेऽग्निमब्रुवन् 'जातवेद ! एतद्विजानीहि' किमेतद् यक्षमिति' 'तथेति' ॥ ३ ॥

तदभ्यद्रवत् । तमभ्यवदत् 'कोऽसीति' । 'अग्निर्वा अहमस्मी' त्यब्रवीत् 'जातवेदा वा अहमस्मीति' ॥ ४ ॥

'तस्मिँस्त्वयि किं वीर्यमिति' 'अपीदँ सर्वं दहेयं, यदिदं पृथिव्यामिति' ॥ ५ ॥

तस्मै तृणं निदधौ 'एतद् दहेति'। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न शशाक दग्धुम्। स ततएव निववृते 'नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति' ॥ ६ ॥

ब्रह्म ने देवताओं के लिये विजय लाभ किया। देवता ब्रह्म के विजय में महिमा वाले होगए। उन्होंने सोचा, यह विजय केवल हमारा है, यह महिमा केवल हमारी है ॥ १ ॥

ब्रह्म ने इस बात को जाना, और उनके लिये प्रकट हुआ, पर उन्होंने उसे नहीं जाना, कि 'यह यक्ष* कौन है' ॥२॥

---

* ब्रह्म को यक्ष के नाम से इस वेदमन्त्र में वर्णन किया है। महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे। तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्ध परित इव शाखाः (अथर्व १०।७।३८) एक बड़ा यक्ष (पूजनीय सत्ता) सारे भुवन के मध्य में है, जो तप (ज्ञान) में बढ़ा हुआ है और सलिल (प्रकृति) के ऊपर (राजा होकर वर्त्तमान) है। जो नाम देवता हैं, सब उसी में आश्रय लिये हुए हैं, जैसे वृक्ष के कन्धे के चारों ओर शाखाएं (आश्रय लिये रहती हैं, अर्थात् वृक्ष की सारी हरी भरी शाखाएं उसी से हरी भरी हैं, जो बड़ा डाल उनको अपने अन्दर से जीवन भेज रहा है, इसी प्रकार सारे देवताओं का जीवन भी वही एक ब्रह्म है) ॥

भमानामुमां हैमवतीं ता ँ होवाच 'किमेतद् यक्षमिति'॥ १२ ॥ (खण्ड ३)

सा 'ब्रह्मेति' होवाच। 'ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति'। ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति। (केन० उप० ४। १)

तब उन्होंने इन्द्र को कहा 'हे भगवन् ! इसे मालूम करो, यह यक्ष कौन है ?' उसने कहा 'बहुत अच्छा'। वह उसकी तरफ दौड़ा गया, वह (यक्ष) उससे (पहले ही) छिप गया॥

तब वह उसी आकाश में उमा (=ब्रह्मविद्या) नामवाली एक स्त्री को मिला, जो बड़ी सजी हुई और सोने के भूषण धारण किये थी। उससे उसने पूछा, यह यक्ष कौन है ?

उस (स्त्री) ने उत्तर दिया 'ब्रह्म'। यह ब्रह्म का विजय है, जिसमें तुम महिमा वाले बन रहे हो'। तब उसने जाना, कि यह ब्रह्म है॥ १॥

यह आख्यायिका कोई ऐतिहासिक घटना नहीं, किन्तु इसी उपनिषद् में जो पहले बतलाया है, कि अधिदैवत और अध्यात्म जगत् की सारी महिमा एक ब्रह्म के आश्रित है, उसी विषय को यहां एक कल्पित आख्यायिका के द्वारा प्रकट किया गया है। जैसे बृहदारण्यक ६। १ * में प्राण की श्रेष्ठता दिख-

---

* और देखो माध्यन्दिन शतपथ १४। ६। २ छान्दो० उप० ५। १, ऐत० आ० २। ४, प्रश्न० २।३; कौषी० उप० ३।३

लाने के लिये प्राण और इन्द्रियों का संवाद है। यहां अभिप्राय यह है, कि अग्नि में जो सब कुछ जला देने और वायु में सब कुछ उड़ा देने की शक्ति है, यह शक्ति उस एक परा शक्ति के सहारे पर है, उसका सहारा छोड़कर अग्नि बेशक अपना पूरा ज़ोर मारे, पर वह एक सूखा तिनका नहीं जला सकती, और न वायु उड़ा सकता है। क्योंकि यह उसी के बल के पीछे बल वाले हैं, और यह उसी के बल से बल वाले हैं।

फिर यह इसी विषय का और भी कैसा स्पष्ट वचन है—

न तत्र सूर्योभाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतोभान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

(मुण्डक २। २। १०)

न वहां सूर्य चमकता है, न चन्द्र और तारे, न यह (जो हमारी आंखों को चुंधिया देती हैं) बिजलियें चमकती हैं, यह अग्नि तो कहां? यह सब कुछ उसके चमकने के पीछे (उसकी चमक के सहारे) चमकता है, हां उसकी चमक से यह सब कुछ चमकता है *॥

गीता भी इसी अर्थ का अनुवाद करती है—

---

* देखो कठ० ५। १५; श्वेता० ६। १४ गीता १५। ६ और मिलाओ तैत्ति० भृगुवल्ली अनुवाक १० से॥

यदादित्यगतं तेजो जगत् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम्
(गी० १५ । १२)॥

सूर्य में स्थित जो तेज समस्त जगत् को प्रकाश दे रहा है, जो चन्द्र में और जो अग्नि में है (हे अर्जुन) उस तेज को तू ब्रह्म * का (तेज) जान ॥

बेशक हम अद्भुत रचना को देखकर उस सर्वशक्ति चेतन का अनुमान तो कर सकते हैं, पर वह इस तरह इस जगत् का प्राण है, कि न अग्नि उसके बिना अग्नि है, न सूर्य उसके बिना सूर्य है, यह भेद वेद वा वैदिक ऋषियों ने ही खोला है, इसीलिये इस ज़ोर से यह आर्ष वचन कहा गया है-

येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् (तैत्ति० ब्रा० ३ । १२ । ९)

जिस तेज से प्रदीप्त होकर सूर्य तपता है, उस महान् (प्रभु) को वह नहीं जानता है, जो वेद को नहीं जानता है।

ब्रह्म की यह महिमा जिसको उपनिषद् ने इस रीति पर दर्शाया है, मन्त्र में इस तरह उपदेश दी गई है—

अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवना-

---

* मामकम्। अक्षरार्थ-मेरा, हमने तात्पर्यांशको लेकर 'ब्रह्म का' अर्थ किया है। गीता के प्रमाणों के विषय में आगे भी ऐसा ही समझना चाहिये।

नि विश्वा । परो दिवा पर एना पृथिव्यैता-
वती महिना संबभूव (ऋ० १० । १२५ । ८)

मैं ही सारे भुवनों को सहारा देती हुई (शक्ति) वायु की तरह इनके अन्दर वेग से बह रही हूं, द्यौ से परे तक और इस पृथिवी से परे तक, इतनी बड़ी मैं अपनी महिमा से हूं॥

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु । हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ (ऋ० ५ । ८५ । २)

(राजा) वरुण ने जंगलों के ऊपर अन्तरिक्ष को फैलाया है (ताकि अन्तरिक्ष से उनको जीवन मिले, और वे अन्तरिक्ष की ओर बढ़ें) उसने घोड़ों में वेग और गौओं में दूध दिया है (बख़्शा है) उसने दिलों में दानाई और जलों में बिजली डाली है, उसने सूर्य को द्यौ में और सोम को पर्वत पर स्थान दिया है॥

यस्यामितानि वीर्या न राधः पर्येतवे ।
ज्योतिर्नविश्वमभ्यस्ति दक्षिणा ।

(ऋ० ८ । २४ । २१)

जिसकी शक्तियें अपरिमित (बेअन्दाज़) हैं, जिसकी दात से कोई बढ़ नहीं सकता है, जिसकी दक्षिणा ज्योति की तरह सब के ऊपर है॥

नकिरस्य शचीनां नियन्ता सूनृतानाम् ।
नकिर्वक्ता न दादिति (ऋ० ८।२२।१५)॥

इसकी शक्तियों का और सच्चे उदार वचनों (मेहरबानियों) का कोई नियन्ता नहीं है। कोई नहीं कह सकता, कि उसने मुझे नहीं दिया है॥

बलं देहि तनूषु नो बलमिन्द्रानळुत्सु नः।
बलं तोकाय तनयाय जीवसे त्वं हि बलदा असि
(ऋ० ३।५३।१८)

हे इन्द्र! हमारे शरीर में बल दो, हमारे पशुओं में बल दो। हमारी सन्तान और उनकी सन्तान के लिये बल दो (उनके दीर्घ और उत्तम–) जीवन के लिये, क्योंकि तुम बल के दाता हो॥

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
(यजु० ३२।२)

सारे निमेष (निमेष २ में होने वाली सारी घटनाएं) विद्युत (चमकते हुए) पुरुष से उत्पन्न होते हैं॥

ऊपर के प्रमाणों से प्रतीत होता है, कि वह इस सारे जगत् का इतना बड़ा आश्रय है, कि इसका सर्वस्व वही है, अग्नि का अग्निपन उसके सहारे है, और सूर्य का सूर्यपन उसी के सहारे है, तब यह वचन उसकी महिमा में कैसा संगत प्रतीत होता है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।
(यजु० ३१। १)

वही अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही अप् (जल) है, वही प्रजापति है॥

सच तो यह है, कि यह सारा ब्रह्माण्ड अपना सारा निर्भर उसी एक शक्ति पर रखता है, जो इसके अन्दर एक शुद्ध पवित्र और चेतन शक्ति है। यह अपनी सारी महिमा से उसी को प्रकाशित करता है। पर मुख से कभी नहीं बोलता, सदा मौन धारण किये हुए है। अगर यह परमात्मा की महिमा को अनुभव करले, और हमें बतला सके, तो सूर्य यह कहेगा—भूलोक के रहने वालो! मेरी चमक देखकर मत भूलो। मैं सूर्य नहीं, सूर्य मेरे अन्दर है। उसकी इच्छा है, मैं तुम्हारे लिये चमकूं और तुम्हें जीवन दूं, बस इसीलिये मैं ऐसा कर रहा हूं। मैं तुम्हें सच बताता हूं, कि यदि वह एक क्षण के लिये भी मुझ से पृथक् हो जाए, तो तुम मुझ को कहीं नहीं पाओगे। सो यदि तुम मेरे उदय होने के कृतज्ञ हो, तो उसके कृतज्ञ बनो जिसने मुझे तुम्हारे लिये उदय किया है। और अगर तुम मुझ से जीवन लाभ करके प्रसन्न हुए हो, तो उसको धन्यवाद दो, जिसने तुम्हारे जीवन के लिए मुझे भी जीवन दिया है *॥

* बृह० उप० ६। १ में इसी प्रकार की कल्पना से प्राण और इन्द्रियों का संवाद दिखलाया है। अन्त में उसमें

यह बात तो एक कल्पित बात है, पर यदि तुम उपनिषद् के तात्पर्य में गहरा घस जाओगे, और उस रंग में रंग जाओगे, जिसमें उपनिषद् तुम को रंगना चाहते हैं, तो सारे ब्रह्माण्ड से तुम को यही आवाज़ सुनाई देगी और यह आवाज़ उस समय ऐसी अजेय बन जायगी, कि सारे सन्देह एक दम कट जायेंगे ॥

हां इस पर आशंका हो सकती है, और वह यह है, कि यदि सब कुछ परमात्मा की शक्ति से होता है, तो हम अपने आप किसी कर्म के करने वाले नहीं हो सकते । जो कुछ हम करते हैं, उसका भार उस शक्ति पर है, जो हम से सब काम करवाती है । इसलिये हम किसी शुभ वा अशुभ कर्म के उत्तर दाता नहीं हो सकते ?

इसका उत्तर भी उपनिषद् में स्वयं युक्तियुक्त दिया हुआ है ॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्नलिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः (कठ० ५ । ११)

सूर्य जैसे सारी दुनिया का नेत्र होकर भी नेत्र के

यह बतलाया है, कि जब इन्द्रियों ने समझ लिया, कि हम प्राण के बिना किसी काम के नहीं, तो वाणी ने सब से अच्छा होने का अभिमान त्यागा और प्राण को कहा, कि मैं जो सब से अच्छी हूं, वह तू ही है, इत्यादि ॥

बाहरी दोषों से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार एक वह सब भूतों का अन्तरात्मा जगत् के दुःख (पाप) से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह (इसमें रहकर भी इससे) न्यारा है ॥

ब्रह्म जीवन है और सब को जीवन दे रहा है — प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी (मुण्ड० ३ । १ । ३)

सचमुच जीवन है यह, जो सब भूतों (हस्तियों) के द्वारा चमक रहा है, जो इसको जानता है; वह असली विद्वान् बनता है, न कि बातें बनाने वाला ॥

यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राणएजति निः सृतम् । (क० ६ । २)

जो कुछ यह सारा जगत् उत्पन्न होकर प्राण (ब्रह्म) में कांप रहा है (चलायमान है)

प्राणस्य प्राणम् (बृह० ४ । ४ । ८)

उस प्राण के प्राण को ॥

स उ प्राणस्य प्राणः (केन० १ । २)

वह प्राण का प्राण है ॥

कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् (तैत्ति० २ । ७)

कौन जी सकता, कौन प्राण ले सकता, यदि यह आकाश (व्यापक) आनन्द (ब्रह्म) न होता ॥

'प्राण' इति होवाच 'सर्वाणि हवा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति, प्राणमभ्युज्जिहते'

(छा० १ । ११ । ५)

(एक यज्ञ में जब प्रस्तोता ने उषस्ति चाक्रायण से पूछा । भगवन् ! प्रस्ताव का देवता कौन है ? तो) उसने उत्तर दिया 'प्राण' । क्योंकि यह सारे भूत प्राण में लीन होते हैं, और प्राण से बाहर निकलते हैं ॥ ५ ॥

अब यहां प्राण से क्या अभिप्राय है ? इसके निर्णय के लिये यह ब्रह्म सूत्र है—

अत एव प्राणः (१ । १ । २३)

अर्थ—इसीलिये (ब्रह्म का चिन्ह पाया जाने से ही) वह प्राण है ॥

व्याख्या—प्राण यहां ब्रह्म से अभिप्राय है, क्योंकि 'सारे भूत प्राण में लीन होते और प्राण से बाहर निकलते हैं' । यह जो सारे भूतों की उत्पत्ति और प्रलय यहां प्राण के आश्रय बतलाए हैं, यह स्पष्ट ब्रह्म के चिन्ह हैं, न कि भौतिक प्राण के । इसलिये यहां प्राण से अभिप्राय पर ब्रह्म है ॥

परमात्मा जीवन रूप और जीवन दाता है, यह विषय वेद में इस तरह वर्णन किया है—

देवानां समवर्ततासुरेकः (ऋ० १० । १२१ । ७

यह सारे देवताओं का एक प्राण है ॥

य आत्मदा बलदाः (१० । १२१ । २)

जो प्राण का देने वाला है और बलका देने वाला है ॥

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्

(अथर्व ११ । ४ । १)

प्राण को नमस्कार है, जिसके यह सब वश में है । जो अपनी हस्ती के साथ ही सबका मालिक है, जिस पर सब कुछ सहारा रखता है ॥

यो मारयाति प्राणयाति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा (अथर्व० १३ । ३ । ३)

जो मारता है और जिलाता है, जिससे सारे भुवन जीते हैं ॥

वह सर्वान्तर्यामी और सबका नियन्ता है ॥ } **य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरोयमयाति ।**

(बृह० उप० ३ । ७ । १)

जो इस लोक को परलोक को और सारे भूतों को, उनके अन्दर रहकर नियम में रखता है * ॥

---

* बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे अध्याय का सातवां

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः, यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्। यः पृथिवी-मन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।३

जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी से अलग * है; जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर † है जो पृथिवी को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ३ ॥

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्यो ऽन्तरः, यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरम्। योऽपो ऽन्तरो यम-यति, एष ते आत्मा ऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ४ ॥

ब्राह्मण अन्तर्यामिब्राह्मण कहलाता है, क्योंकि इस में अन्तर्यामी का वर्णन है। यह वचन उद्दालक ने प्रश्न के तौर पर कवन्ध से सुना है, और उससे इसका उत्तर भी जान लिया है। अब यह जनक की सभा में उद्दालक ने याज्ञवल्क्य पर प्रश्न किया है। इसके आगे 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि याज्ञवल्क्य का उत्तर है॥

* पृथिवी के अभ्यन्तर है (शङ्कराचार्य); पर यहां 'पृथिव्याः' यह पञ्चमी विभक्ति है, पञ्चमी के अनुसार 'पृथिवी से अलग' अर्थ ही ठीक है।

† जैसे यह हमारा शरीर है, हम इसके नियन्ता हैं, इसी प्रकार पृथिवी का नियन्ता परमात्मा है।

जो जलों में रहता हुआ जलों से अलग है, जिसको जल नहीं जानते, जिसका जल शरीर है। जो जलों को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ४ ॥

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरः, यमग्निर्न वेद, यस्याग्निः शरीरम् । योऽग्निमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ५ ॥

जो अग्नि में रह कर अग्नि से अलग है, जिसको अग्नि नहीं जानती, जिसका अग्नि शरीर है, जो अग्नि को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ५ ॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरः, यमन्तरिक्षं न वेद, यस्यान्तरिक्ष ँ शरीरम् । योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ६ ॥

जो अन्तरिक्ष में रहकर अन्तरिक्ष से अलग है, जिसको अन्तरिक्ष नहीं जानता, जिसका अन्तरिक्ष शरीर है। जो अन्तरिक्ष को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ६ ॥

यो वायौ तिष्ठन् वायोरन्तरः, यं वायुर्न

वेद, यस्य वायुः शरीरम् । यो वायुमन्तरो यमयति, एष त आत्मा ऽन्तर्याम्यमृतः ॥७॥

जो वायु में रहकर वायु से अलग है, जिसको वायु नहीं जानता, वायु जिसका शरीर है । जो वायु को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ७ ॥

यो दिवि तिष्ठन् दिवोऽन्तरः, यं द्यौर्नवेद, यस्य द्यौः शरीरम् । यो दिवमन्तरो यमयति, एष त आत्मा ऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ८ ॥

जो द्यौ में रहकर द्यौ से अलग है । जिसको द्यौ नहीं जानता, जिसका द्यौ शरीर है । जो द्यौ को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥८॥

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरः, यमादित्यो न वेद, यस्यादित्यः शरीरम् । य आदित्यमन्तरो यमयति, एष ते आत्मा ऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ९ ॥

जो सूर्य में रहकर सूर्य से अलग है, जिसको सूर्य नहीं जानता, जिसका सूर्य शरीर है, जो सूर्य को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥९॥

यो दिक्षु तिष्ठन् दिग्भ्यो ऽन्तरः, यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरम्। यो दिशोऽन्तरो यमयति, एष त आत्मा ऽन्तर्याम्यमृतः ॥१०॥

जो दिशाओं में रहकर दिशाओं से अलग है, जिसको दिशाएं नहीं जानतीं, दिशाएं जिसका शरीर हैं। जो दिशाओं को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १० ॥

यश्चन्द्रतारके तिष्ठंश्चन्द्रतारकादन्तरः, यंचन्द्रतारकं न वेद, यस्य चन्द्रतारकं शरीरम्। यो चन्द्रतारकमन्तरो यमयति, एष त आत्मा ऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ११ ॥

जो चन्द्र तारों में रहकर चन्द्र तारों से अलग है, जिसको चन्द्र तारे नहीं जानते, जिसका चन्द्र तारे शरीर है। जो चन्द्र तारों को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ११ ॥

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो, यमाकाशो न वेद, यस्याकाशः शरीरम्। य आ-

काशमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्या-म्यमृतः ॥ १२ ॥

जो आकाश में रहकर आकाश से अलग है, जिसको आकाश नहीं जानता, जिसका आकाश शरीर है। जो आकाश को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १२ ॥

यस्तमसि तिष्ठंस्तमसोऽन्तरः, यं तमो न वेद, यस्य तमः शरीरम्। यस्तमोऽन्तरो यमयति, एष त आत्मा ऽन्तर्याम्यमृतः ॥१३॥

जो अन्धेरे में रहकर अन्धेरे से अलग है, जिसको अन्धेरा नहीं जानता, जिसका अन्धेरा शरीर है। जो अन्धेरे को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्त-र्यामी अमृत है ॥ १३ ॥

यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोऽन्तरः, यं तेजो न वेद, यस्य तेजः शरीरं। यस्तेजोऽन्तरो यमयति। एष त आत्मा ऽन्तर्याम्यमृतः, इत्यधिदैवतम्, अथाधिभूतम् ॥ १४ ॥

जो तेज में रहकर तेज से अलग है, जिसको तेज नहीं जानता, जिसका तेज शरीर है। जो तेज को अन्दर रहकर

नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह उसकी देवताओं में अन्तर्यामिता है, अब प्राणधारियों में अन्तर्यामिता कहते हैं ॥ १४ ॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ऽन्तरः, यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्। यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, इत्यधिभूतम्, अथाध्यात्मम् ॥ १५ ॥

जो सारे भूतों (प्राणधारियों) में रहकर सारे भूतों से अलग है. जिसको सारे भूत नहीं जानते, जिसका सारे भूत शरीर हैं, जो सब भूतों को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, यह उसकी प्राणधारियों में अन्तर्यामिता है, अब शरीर में अन्तर्यामिता बतलाते हैं— ॥ १५ ॥

यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरः, यं प्राणो न वेद, यस्य प्राणः शरीरम्। यः प्राणमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्मृतः ॥ १६ ॥

जो प्राण में रहकर प्राण से अलग है, जिसको प्राण नहीं जानता, जिसका प्राण शरीर है। जो प्राण को अन्द

रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १६ ॥

यो वाचि तिष्ठन् वाचोऽन्तरः, यं वाङ् न वेद, यस्य वाक् शरीरम् । यो वाचमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१७॥

जो वाणी में रहकर वाणी से अलग है, जिसको वाणी नहीं जानती, जिसका वाणी शरीर है। जो वाणी को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १७ ॥

यश्चक्षुषि तिष्ठँश्चक्षुषोऽन्तरः, यं चक्षुर्न वेद, यस्य चक्षुः शरीरम् । यश्चक्षुरन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १८ ॥१८॥

जो नेत्र में रहकर नेत्र से अलग है, जिसको नेत्र नहीं जानता, जिसका नेत्र शरीर है। जो नेत्र को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥१८॥

यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरः, यँ श्रोत्रं न वेद, यस्य श्रोत्रँ शरीरम् । यः श्रोत्रमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१९

जो श्रोत्र में रहकर श्रोत्र से अलग है, जिसको श्रोत्र

नहीं जानता, जिसका श्रोत्र शरीर है। जो श्रोत्र को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १९ ॥

यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरः, यं मनो न वेद, यस्य मनः शरीरम् । यो मनोऽन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥२०॥

जो मन में रहकर मन से अलग है, जिसको मन नहीं जानता जिसका मन शरीर है । जो मन को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥२०॥

यस्त्वचि तिष्ठंस्त्वचोऽन्तरः, यं त्वङ् न वेद, यस्य त्वक् शरीरम् । यस्त्वचमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥२१॥

जो त्वचा में रहकर त्वचा से अलग है, जिसको त्वचा नहीं जानती, जिसका त्वचा शरीर है। जो त्वचा को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २१ ॥

यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरः, यं विज्ञानं न वेद, यस्य विज्ञानं शरीरम् । यो

विज्ञानमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २२ ॥

जो आत्मा * में रहकर आत्मा से अलग है, जिसको आत्मा नहीं जानता, जिसका आत्मा शरीर है। जो आत्मा को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २२ ॥

यो रेतसि तिष्ठन् रेतसो ऽन्तरः, यं रेतो न वेद, यस्य रेतः शरीरम् । यो रेतो ऽन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतो ऽदृष्टो द्रष्टा, ऽश्रुतः श्रोता, ऽमतो मन्ता, ऽविज्ञातो विज्ञाता, नान्यो ऽतो ऽस्ति द्रष्टा, नान्यो ऽतो ऽस्ति श्रोता, नान्यो ऽतो ऽस्ति मन्ता, नान्यो ऽतो ऽस्ति विज्ञाता, एष त आत्मा ऽन्तर्याम्यमृतः, अतो ऽन्यदार्तम् । ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥ २३ ॥

---

* हमने यहां विज्ञान का अर्थ आत्मा लिया है। क्योंकि माध्यन्दिन पाठ में 'विज्ञाने' की जगह 'आत्मनि' आया है और ब्रह्मसूत्र १।२।२० में वेदव्यास ने और उसके भाष्य में स्वामी शंकराचार्य ने इसी बात को दिखलाया है॥

जो बीज में रहकर बीज से अलग है, जिसको बीज नहीं जानता, जिसका बीज शरीर है । जो बीज को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है * । जो देखा नहीं जाता और देखने वाला है, जो सुना नहीं जाता और सुनने वाला है, जो ख्याल में नहीं आता और ख्याल करने वाला है, जो जाना नहीं जाता और जानने वाला है । इससे बढ़कर कोई देखने वाला नहीं, इससे बढ़कर कोई सुनने वाला नहीं, इससे बढ़कर कोई ख्याल करने वाला

---

* हम इस जगत् में एक सर्वज्ञ सर्वशक्ति नियन्ता का हाथ देखते हैं । इसमें वह नियम काम कर रहे हैं, जो अटल हैं, और इसकी सारी सत्ता जिनके हाथ में है । हमारे शरीर की प्रवृत्ति का नियन्ता हमारा आत्मा है, पर हम उस शक्ति के नियन्ता नहीं, जिससे शरीर के अवयव अपना २ काम करते हैं । उस शक्ति का नियन्ता परमात्मा हैं, हमारी आंख उनके नियम में देखती है, और हमारा कान उनके नियम में सुनता है । वह जिस तरह हमारे इन्द्रियों की शक्ति के नियन्ता हैं, इसी तरह वह सारे जगत् की शक्ति के नियन्ता हैं, और हमारे आत्मा के भी नियन्ता हैं, इसीलिये हमारा आत्मा भी उनका शरीर है, और वह हमारे आत्मा के भी आत्मा हैं। जिस तरह इस शरीर के अन्दर आत्मा की झलक है, पर यह शरीर उस आत्मा को नहीं जानता, इसी प्रकार इस समस्त विश्व के अन्दर उस परम आत्मा की झलक है, पर यह विश्व उसको नहीं जानता । आत्मा को शरीर कैसे जान सके, वह इसका आत्मा है, वह अन्तर्यामी है, अमृत है ।

नहीं, इससे बढ़कर कोई जानने वाला नहीं, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, इससे भिन्न सब दुखिया हैं। तब उद्दालक आरुणि (अरुण का पुत्र) चुप हो गया ॥ २३ ॥

ब्रह्म सूत्रों (१।२।१८-२०) में इस विषय पर यह विचार किया गया है—

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥१८॥

अर्थ—अधिदैव आदि में अन्तर्यामी परमात्मा है; क्योंकि यहां उसके धर्म बतलाए हैं॥

व्याख्या—सारे देवताओं में, सारे लोकों में, सारे वेदों में, सारे यज्ञों में, सारे भूतों में, शरीर, प्राण, इन्द्रिय और आत्मा में जो अन्तर्यामी कहा है, वह परमात्मा है, क्योंकि यहां अन्तर्यामी के जो धर्म बतलाये हैं, कि वह सब के अन्दर रहकर सब को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, वह देखा नहीं जाता, वह सुना नहीं जाता। यह धर्म परमात्मा में घट सकते हैं। क्योंकि परमात्मा सबके अन्दर रहकर सबको नियम में रखता है। परम आत्मा आत्मा है, अमृत है अदृष्ट और अश्रुत है। इसलिए यहां अन्तर्यामी से अभिप्राय परमात्मा से है॥

प्रश्न—यहां जो अन्तर्यामी के धर्म दिखलाए हैं, वह प्रकृति में भी घट सकते हैं; प्रकृति भी परम सूक्ष्म है, इसलिये अदृष्ट और अश्रुत है, वह नष्ट नहीं होती, इसलिये अमृत है। वह सबकी नियन्त्री (नियम में रखने वाली) है क्योंकि वह सबका कारण है, और सब कुछ उसका कार्य है। और

कार्य सारे कारण स्वरूप ही होते हैं। (जैसे मट्टी के सारे बर्तन मट्टी रूप ही हैं) इसलिए वह सबका आत्मा कहीं है। इस लिए यहां अन्तर्यामी प्रकृति भी बन सकती है, उसको यह वर्णन क्यों न माना जाय ? इसका उत्तर देते हैं—

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १९ ॥

अर्थ—(अन्तर्यामी यहां) प्रकृति नहीं हो सकती, क्योंकि यहां ऐसे धर्म बतलाए गए हैं, जो प्रकृति के नहीं हैं॥

व्याख्या—यद्यपि 'वह अदृष्ट है, अश्रुत है, इत्यादि (३।७।२३) धर्म प्रकृति में भी घट सकते हैं, तथापि 'वह द्रष्टा है, श्रोता है' इत्यादि धर्म प्रकृति में नहीं घट सकते, क्योंकि प्रकृति अचेतन है। 'वह सबका नियन्ता है, अन्तर्यामी आत्मा है' यह धर्म भी जैसे परमात्मा में घटते हैं, वैसे प्रकृति में नहीं घटते, प्रकृति में यथा कथञ्चित् उपपादन किये जा सकते हैं॥

(प्रश्न)—तथापि अन्तर्यामी से यहां जीवात्मा ही क्यों न माना जाय ? जीवात्मा अदृष्ट अश्रुत भी है और द्रष्टा श्रोता भी है। अमृत भी है, क्योंकि शरीर और इन्द्रियों के नाश होने पर भी नाश नहीं होता। यदि यह अमृत न होता, तो परलोक में कोई फल भोगने वाला न होता। जो कुछ सारे जीवों ने धर्म अधर्म कमाये हैं, वह भी इस सारे जगत् को एक विशेष नियम में रखने के हेतु हैं, इसलिए वह सब का नियन्ता कहा है। और यद्यपि जीवात्मा अनेक हैं, पर यहां एक वचन जाति के अभिप्राय से है। इसलिए जीव को ही अन्तर्यामी क्यों न माना जाय ? इसका उत्तर देते हैं:—

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥२०॥

अर्थ—जीवात्मा भी अन्तर्यामी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों ही (शाखा वाले) इस (जीवात्मा को (अन्तर्यामी से) भिन्न करके पढ़ते हैं ॥

व्याख्या—जिस तरह यहां अन्तर्यामी को पृथिवी आदि से अलग बतलाया, है कि 'जो पृथिवी में रहकर पृथिवी से अलग है' इसी प्रकार यहां उसको जीवात्मा से भी अलग बतलाया है, 'जो आत्मा में रहकर आत्मा से अलग है' इसी-लिए यहां जीवात्मा से भिन्न परमात्मा ही अन्तर्यामी हो सकता है ॥

और यह अन्तर्यामी का जीवात्मा से भेद, दोनों शाखाओं में बतलाया है, यद्यपि पाठ का किञ्चित् भेद है। माध्यन्दिन शाखा का पाठ 'य आत्मनि तिष्ठन्' है, और काण्व शाखा का पाठ 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' * पहले पाठ में तो अर्थ साफ है 'जो आत्मा में रहकर'। दूसरे पाठ में भी विज्ञान से जीवात्मा ही लेना चाहिये क्योंकि जीवात्मा विज्ञानमय है, और दूसरा माध्यन्दिन पाठ के साथ पाठ वा अर्थ द्वारा इसकी एकता होनी उचित भी है ॥

---

* बृहदारण्यक उपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का एक हिस्सा है। शतपथ ब्राह्मण जो सम्पूर्ण छप गया है, वह माध्यन्दिन शाखा का है, और यह बृहदारण्यक उपनिषद जो दस उपनिषदों में अलग छपी है, यह काण्व शाखा के शतपथ में से अलग की गई है ॥

परमात्मा इस सारे जगत् के नियन्ता हैं, वह तुम से अलग हैं, पर तुम से परे नहीं, तुम्हारे अन्दर ही है, तथापि तुम उन्हें नहीं जानते हो, उपनिषद् का यह उपदेश मन्त्र में इस रीति पर दिया गया है—

इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिरे (ऋ० ८।२।६)

सारे भुवन (हस्तियें) इन्द्र के नियम में बन्धे हुए हैं ॥

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति (ऋ० १०।८२।७)

जिसने इन (सारे भुवनों, हस्तियों) को जन्म दिया है, वह तुम से अलग है, पर तुम्हारे अन्दर है, तथापि तुम उसको नहीं जानते हो, (क्योंकि प्रायः लोग) कुहर (अविद्या) से वा बकवास से ढपे हुए, वा प्राणों के पोषण में तत्पर हुए, अथवा उक्थ (भजन) कहने वाले बनकर आयु बिता देते हैं ॥

ब्रह्म सर्व-व्यापक है

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।

(मुण्ड० २।२।११)

ब्रह्म ही यह अमृतरूप सामने है, ब्रह्म पीछे है, ब्रह्म दायें है और बायें है। यह नीचे और ऊपर फैला हुआ है, यह सम्पूर्ण ब्रह्म ही है। यह सब से उत्तम है ॥

बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ।

(मुण्ड० २।१।७)

वह महान् है, दिव्य है, अचिन्त्यरूप है, और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर प्रतीत होता है। वह दूर से अधिक दूर है, तथापि वह यहां ही हमारे निकट है, देखने वालों के अन्दर यह यहां ही (हृदय की) गुफा में छिपा हुआ है॥

आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत् पद-मत्रैतत्समर्पितं। एजत् प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सद सद् वरेण्यं परं विज्ञानाद् यद् वरिष्ठं प्रजानां (मु० २।२।१)

(वह सार) प्रकट है, निकट है, गुहाचर (हृदय की गुफा में विचरने वाला) प्रसिद्ध है। वह एक बड़ा आधार है, जिसमें यह सब प्रोया हुआ है, जो चलता है, सांस लेता है और आंख झपकता है और जो कुछ तुम यह स्थूल सूक्ष्म जानते हो (यह सब उसी में प्रोया हुआ है)। वह पूजा के योग्य है, सब से श्रेष्ठ है, प्रजाओं की समझ से परे है॥

स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः, नैनेन किञ्चनानावृतं नैनेन किञ्चनासंवृतम् ।
(बृह० । २ । ५ । १८)

सचमुच यह पुरुष है, जो सारे पुरों (शरीरों) में पुरिशय (शरीर में रहने वाला) है । कोई वस्तु ऐसी नहीं, जो इससे ढपी हुई न हो, और कोई वस्तु ऐसी नहीं, जो इससे भरपूर न हो ॥

यो देवो ऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश । य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमोनमः । (श्वेता० २ । १७)

यह देव, जो अग्नि में है, जो जलों में है, जो ओषधियों में है, जो वनस्पतियों में है, जो सारे भुवन में आवेश किये हुए है (प्रवेश करके अपने अधीन चला रहा है), उस देव को वारंवार नमस्कार है ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता: केवलो निर्गुणश्च (श्वेता० ६ । ११)

यह देव एक है, सारे भूतों में छिपा हुआ है, सर्वव्यापक है, सब भूतों का अन्तरात्मा है, कर्मों का अधिष्ठाता

है, सब भूतों का आधार है, साक्षी है, चेतन है, केवल है (एकतत्त्व है) और निर्गुण है ॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥

(श्वेता० १ । १६)

वह सर्वव्यापी आत्मा दूध में मक्खन की तरह सारे समाया हुआ है । आत्मविद्या और तप उसकी प्राप्ति का मूल है, वह ब्रह्म उपनिषद् का परम रहस्य है ॥

ब्रह्म सर्वव्यापक है, उपनिषद् का यह उपदेश भी वही है, जो मन्त्र में इस रीति पर वर्णन किया है—

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् । तां मां देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ।

(ऋ० १० । १२५ ३)

मैं (शक्ति) सारे देश की मालिक हूं, सारे धन (खज़ाने) मेरे पास इकट्ठे हैं । मेरे ज्ञान से बाहर कोई वस्तु नहीं । जो यज्ञ के योग्य हैं उनमें मैं ही मुखिया हूं । मैं जो हरएक वस्तु में प्रविष्ट हूं, और हरएक वस्तु में रहती हूं, उस मुझको (सूर्य आदि) देवताओं ने बहुत स्थानों में बांटा हुआ है (अर्थात् सूर्य मेरे तेज से तपता है और वायु मेरे बल से चलता है) ॥

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहासद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निद ँसं च विचैति सर्व ँस ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु (यजु० ३२।८)

विद्वान् पुरुष उस (ब्रह्म) को (हृदय की) गुफा में छिपा हुआ देखता है, जो नित्य है, और सारे विश्व का एक घोंसला (आश्रय) है। उसी में यह सब लीन होता है और उसी से फिर उत्पन्न होता है। वह विभू सारी प्रजाओं के अन्दर ओत प्रोत हो रहा है॥

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठाति सर्वतोमुखः।
(यजु० ३२।४)

यह देव सारे कोणों को घेरे हुए स्थित है। वह आदि में प्रकट में हुआ, वही सबके गर्भ में अन्दर रहता है। वही प्रकट हुआ और वह प्रकट होता रहेगा, हे लोगो! वह सर्वतो मुख (सब तरफ मुख किये हुए, सब पर दृष्टि डालता हुआ, और सब के लिये सब जगह दीखने योग्य) होकर तुम्हारे सामने खड़ा है॥

वह सर्वेश्वर और सर्वाधिपति है। } सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च।
(बृह० ५।६।१)

यह सब पर ईशन (हकूमत) करता है (सर्वेश्वर है), सबका अधिपति है। इस सब पर हकूमत करता है, जो कुछ यह है॥

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानाᳬराजा। तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिताः, एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः।

(बृह० २।५।१५)

यह आत्मा सब भूतों का अधिपति है, सब भूतों का राजा है। जैसे रथ के सारे अरे एक ओर रथ की नाभि में और दूसरी ओर रथ की नेमि (धारा) में प्रोए हुए होते हैं, इसी प्रकार इस आत्मा में सारे जीव, सारे देवता, सारे लोक, सारे प्राण और सारे यह आत्मा प्रोए हुए हैं॥

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु, य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते। सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः। स न साधुना कर्मणा भूयान्, नो एवासाधुना कनीयान्। एष सर्वेश्वर एष भूता-

धिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय । तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन । एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति । एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति ।

(बृह० ४ । ४ । २२)

यह महान् अजन्मा आत्मा है, जो यह प्राणों के अन्दर विज्ञानस्वरूप है । यहां जो हृदय के अन्दर आकाश है, यह उस में आराम करता है (रहता है) । सब को वश में रखने वाला, सब पर शासन करने वाला, सब का अधिपति (नियन्ता) है । वह न साधु कर्म से बड़ा होता है, न असाधु से छोटा होता है । यह सब का ईश्वर है, यह सारे जीवों क पालक है । यह एक (अपनी २ मर्यादा में) धारण रखने वाला बन्द है, जिस से कि यह लोक आपस में न गड़बड़ाएं । यह है, जिस को ब्राह्मण वेद के पढ़ने से जानना चाहते हैं, तथा यज्ञ से, दान से, तप से, और अनाहार (इन्द्रियों को विषयों से रोकने) से (जानना चाहते हैं) । इसी को जान कर मनुष्य मुनि बनता है । यही वह लोक (दुनिया) है, जिसको चाहते हुए परिव्राजक (संन्यासी) (घरों से) चले जाते हैं ।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां

परमं च दैवतम् । पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेश मीड्यम् (श्वेता० ६ । ७)

हम उसको देव (अपना इष्टदेव) जानते हैं, जो ईश्वरों का परम महेश्वर है, जो देवताओं का परमदैवत है, जो पतियें (मालिकों) का परमपति है, जो सब से परे है, सारे भुवनों का मालिक, पूजा के योग्य है ॥

यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः ।
य ईशऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा
विधेम । (श्वेता० ४ । १३)

हम किस देव की हवि से पूजा करें ? (उसकी) जो सारे देवताओं का एक मालिक है, जिस में सारे लोक आश्रय लिये हुए हैं, जो मनुष्यों और पशुओं पर ईशान (हकूमत) करता है ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ।
(श्वेता० ३ । १७)

वह सारे इन्द्रियों के गुणों (देखने सुनने आदि) से चमकता है, और सारे इन्द्रियों से वर्जित है । वह सब का प्रभु है, सब पर शासन करता है, सब का शरण (पनाह) है, और सब से बड़ा है ।

य एको जालवानीशत ईशिनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशिनीभिः। य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।

(श्वेता० ३। १)

वह अकेला इस सारी माया का मालिक अपनी ईशन (हकूमत) की शक्तियों से ईशन कर रहा है। हां, वह अपनी ईशन की शक्तियों से सारे लोकों पर ईशन कर रहा है। जो इस सब के प्रकट होने और जन्म देने में अकेला (काम कर रहा) है। जो यह जान लेते हैं, वह अमृत हो जाते हैं॥

मन्त्रों में यह विषय इस तरह वर्णन किया है :—

यः प्राणतो निमिषतो*महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। य ईशेऽस्य द्विपश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम †।

(ऋ० १०। १२१। ३)

हम किस देव की हवि से पूजा करें ? (उस की) जो

---

* यजु० २। ३। ३ में महीधर ने "निमपतो" पाठ मान कर उसकी व्याख्या की है। पर यह पाठ भ्रान्ति से समझा गया है। पाठ "निमिषतो" ही शुद्ध है॥

† यह मन्त्र यजु० २३। ३; २५। ११; तै० सं० ४। १। ८। ६; ७। ५। १६। अथर्व० ४। २। २ में भी है॥

सांस लेते हुए और आंख झपकते हुए जगत का एक अकेला अपनी शक्ति से मालिक है, और जो मनुष्यों और पशुओं पर शासन करता है ॥

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः । सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान्न नेमिः परि ता बभूव ।

(ऋ० १ । ३२ । १५)

इन्द्र जिसकी भुजा में वज्र है, वह उस सब का राजा है जो चलता है और खड़ा है, और जो शान्त है और लड़ाका है, हां, वही राजा सब मनुष्यों पर शासन करता है । वह इस तरह सब को घेरे हुए है, जैसे रथ की नेमि (धारा) अरों को घेरे हुए होती है ॥

विश्वस्य मिषतो वशी (ऋ० १० । १९० । २

उस सब को वश में रखने वाला, जो आंख झपकता है अर्थात् जीवित है ॥

इन्द्रो ह दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतनाम् । इन्द्रोवृधामिन्द्र इन्मेधिराणा मिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः ।

(ऋ० १० । ८९ । १०)

इन्द्र द्यौ पर हकूमत करता है, इन्द्र पृथिवी पर हकूमत

करता है, इन्द्र जलों पर हकूमत करता है और इन्द्र ही मेघ पर हकूमत करता है। इन्द्र बढ़ने वालों पर हकूमत करता है और इन्द्र ही समस्त वालों पर हकूमत करता है। जो कुछ प्राप्त नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिये इन्द्र पुकारने योग्य है, और जो कुछ प्राप्त है उसकी रक्षा के लिये भी इन्द्र पुकारने योग्य है (तुम जो कुछ चाहते हो इन्द्र से मांगो, और जब तुमने पालिया है, तो उसकी रक्षा के लिये भी वही तुम्हारा प्रार्थनीय होना चाहिये)॥

विश्वस्यैक ईशिषे सास्युक्थ्यः [ऋ०

हे इन्द्र सारे विश्व पर तूही अकेला शासन करता है, सो तूही भक्ति के योग्य है॥

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्।
(ऋ० १०।१२५।३)

मैं रानी हूं, सारे खजाने मेरे पास इकट्ठे हैं॥

उसके कोई बराबर नहीं, उससे कोई बढ़कर नहीं, उसका कोई मालिक नहीं उसका कोई ईश्वर नहीं। वह सब से ऊपर है, सबका मालिक सबका ईश्वर है॥

एष मे आत्मा ऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः। (छान्दो० ३।१४।३)

यह मेरा आत्मा हृदय के अन्दर है, पृथिवी से बड़ा, अन्तरिक्ष से बड़ा, द्यौ से बड़ा, इन सारे लोकों से बड़ा॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्स-मश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥७॥

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके नचेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् । स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः ।

(श्वेता० ६ । ७;८)

उसका न शरीर है, न इन्द्रिय हैं, न उसके कोई बराबर, न उससे बढ़कर दीखता है । उसकी शक्ति सब से ऊंची है, और अनेक प्रकार की है, वह शक्ति ज्ञान और बल की शक्ति है, जो उसमें स्वभाविक है ॥ ७ ॥

दुनिया में उसका कोई पति नहीं, न उस पर कोई ईश्वर (हाकिम) है, न उसका कोई चिन्ह है । वह कारण है और इन्द्रियों के पति (जीवात्मा) का पति है, उसका कोई उत्पन्न करने वाला नहीं, कोई अधिपति नहीं ॥

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किंचित् । वृक्ष इवस्तब्धो दिवितिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।

(श्वेता० ३ । ९)

जिस से कुछ परे नहीं और जिससे कोई वरे नहीं ।

जिससे कुछ सूक्ष्म नहीं और जिससे कोई बड़ा नहीं । वह अपनी चमकती हुई महिमा में अकेला वृक्ष की तरह जम कर खड़ा हुआ है, उस अद्वितीय पुरुष से यह सब कुछ पूर्ण हो रहा है ॥

मन्त्रों में यह विषय इस प्रकार वर्णन किया है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्* ।

(ऋ० १० । १२१ । १०)

हे प्रजा के मालिक ! तेरे बिना कोई दूसरा इन सब पर हकूमत नहीं कर रहा है । हम जिस कामना से तेरे लिये होम करते हैं, वह हमारी पूरी हो । और हम खजानों के मालिक बनें ।

अयुजो असमो नृभिरेकः कृष्टीरयास्यः । पूर्वीरति प्रवावृधे विश्वा जातान्योजसा भद्रा इन्द्रस्य रातयः । (ऋ० ८ । ५१ । २)

जो असहाय है, दूसरे वीर जिसकी बराबरी नहीं कर सकते, जो अद्वितीय है, जिसको काम थका नहीं सकता,

---

* यह ऋचा यजु० १० । २०; २३ । ६५; तै० सं० १ । ८ । १४ । २; ३ । २ । ५ । ६; तै० ब्रा० २ । ८ । १ । २; ३ । ५ । ७ । १ अथर्व ७ । ७९ । ४ । ७; ८० । ३ में भी है।

वह पहले लोगों से बढ़कर रहा है, वह अपने पराक्रम के साथ सारी सृष्टि से आगे बढ़ा हुआ है । उस इन्द्र के दान कल्याणकारी हैं ॥

त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्या ऋष्ववीरस्य बृहतः पतिर्भूः । विश्वमाप्रा अन्तरिक्षं महित्वा सत्यमद्धा न किरन्यस्त्वावान् (ऋ० १ । ५२ । १३)

तू पृथिवी का तोल है, तू बड़े दर्शनीय वीरों वाले लोक का पति है, तूने अपनी महिमा से सारे अन्तरिक्ष को भर दिया है । हां यह सच है, कि तेरे सदृश कोई नहीं है ।

यस्माज्जातं न पुरा किंचनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा । प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ।

(यजु० ३२ । ५)

जिससे पहले कुछ नहीं प्रकट हुआ है, जो सारे भुवनों घेरे हुए हैं, वह सोलह कला वाला प्रजापति अपनी प्रजा क साथ रमा हुआ तीन ज्योतियों (अग्नि, विद्युत, सूर्य) में समाता है (उनको तेज देता हुआ उनसे अपनी महिमा का प्रकाश कर रहा है) ।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः

(यजु० ३२ । ३)

उसके कोई बराबर नहीं, जिसका प्रसिद्ध बड़ा यश है।

यत् परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् । कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत् तद्बभूव (अथर्व १०।७।८)

प्रजापति ने जो ऊपर नीचे और मध्य में भांति २ की सृष्टि रची है। उसमें स्कम्भ कितने अंश से प्रविष्ट हुआ है, और जो अंश उसमें प्रविष्ट नहीं हुआ, वह कितना है* ।

यहां हम (न उससे कोई बढ़कर है, न उसके कोई बराबर है) इस विषय को युक्ति से भी स्पष्ट करना चाहते हैं

प्रश्न-बराबर २ के बहुत से ईश्वर मानने में क्या दोष है?

उत्तर-यह दोष है, कि जब एक ही वस्तु के विषय में एक की इच्छा हो, कि यह जल्दी नष्ट हो जाय, और दूसरे की इच्छा हो, कि यह चिर काल तक बनी रहे, तो उनमें से एक का अभिप्राय पूरा होने पर दूसरे में न्यूनता आजायगी। अब जिसमें न्यूनता है, वह ईश्वर नहीं ।

प्रश्न-दोनों का अभिप्राय पूरा न हो, वा दोनों का ही पूरा हो जाय, तो किसी में न्यूनता न होगी ।

---

* तात्पर्य्य यह है, कि यह सारी महती सृष्टि उसके एक अंश में पड़ी है, उसका अपना स्वरूप इस रचना से बहुत बढ़कर है। इस सृष्टि की सीमा है, पर उसकी कोई सीमा नहीं। इस महिमा में उसका थोड़ा स्वरूप प्रविष्ट है, जो इससे परे है, वह अनन्त है। मिलाओ १०।९०।३ से।

उत्तर-दोनों का अभिप्राय पूरा न होने में बराबरी तो दोनों की बनी रहती है, पर ईश्वर उनमें से कोई भी नहीं हो सकता। ईश्वर वह है, जिसके अभिप्राय के पूरा होने में कोई रुकावट नहीं होती। रहा यह कि दोनों का अभिप्राय पूरा हो, सो हो नहीं सकता, क्योंकि दोनों का अभिप्राय परस्पर विरुद्ध है।

प्रश्न-वह सर्वज्ञ हैं, और गम्भीर प्रकृति वाले हैं, उनका अभिप्राय एक दूसरे के विरुद्ध होता ही नहीं, जो एक की इच्छा होती है, वही दूसरे की भी होती है, इसलिये सबकी इच्छा पूरी हो जाती है।

उत्तर-जब एक की इच्छा विद्यमान है, और वह अवश्य पूरी भी होती है, तो उसी एक इच्छा से सारा काम चल सकता है, दूसरी एक व्यर्थ इच्छा साथ लगाने की आवश्यकता नहीं।

प्रश्न—अन्तरङ्ग सभा (पंचायत) की तरह वह सारे मिल कर ही काम करते हैं, अकेला कोई कुछ नहीं करता, इस तरह पर बहुत ईश्वर मानने में तो कोई दोष नहीं आयगा?

उत्तर—तब अन्तरङ्ग सभा की तरह ही उनमें कोई भी ईश्वर नहीं, क्योंकि उनमें कोई भी स्वतन्त्र नहीं।

प्रश्न—अच्छा, तो ऐसा मानेंगे, कि वह बारी २ से जगत पर शासन करते हैं, और अपने २ राज्यकाल में उनको पूरी स्वतन्त्रता होती है।

उत्तर—दूसरे के राज्यकाल में तो उनकी स्वतन्त्रता छिन जाती है, तब वह निरयेश्वर नहीं हुए। और जिसका

ईशन अनित्य है, वह ईश्वर नहीं है। इसलिये उसके बराबर कोई दूसरा नहीं बन सकता। और बढ़कर इसलिये नहीं बन सकता, कि जो बड़ा है वही ईश्वर है। अतएव यह ठीक कहा है—

न तत्समश्चाभ्याधिकश्च दृश्यते।

उसके अधीन सब कुछ अपनी मर्यादा में खड़ा है

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः, प्रतीच्योऽन्याः, यां यां च दिशमनु। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति, यजमानं देवाः, दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः।

(बृह० ३।८।९)

निःसन्देह इस अक्षर के प्रशासन (ज़बरदस्त हुक्म) में हे गार्गि ! सूर्य्य और चान्द मर्यादा में खड़े हैं। इस अक्षर के प्रशासन में हे गार्गि! द्यौ और पृथिवी मर्यादा में खड़े हैं। इस अक्षर के प्रशासन में हे गार्गि! पलक, महूर्त, दिन, रात, पक्ष, महीने, ऋतु और बरस, अपनी २ मर्यादा में खड़े हैं। इस अक्षर के प्रशासन में हे गार्गि! नदियें स्फेद पर्वतों से निकल कर पूर्व की ओर बहती हैं, और दूसरी पश्चिम की ओर। चाहे जिस किसी दिशा में बहती हैं, इसी के शासन में बहती हैं। इसी के शासन में हे गार्गि! दान देने वाले की लोग प्रशंसा करते हैं। देवता यजमान के अनुकूल होते हैं और पितर दर्वि होम* के।

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोका-नामसम्भेदाय। नैतꣳसेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम्।
(छान्दो० ८।४।१)

यह आत्मा है, यह एक सेतु† (पुल) है, एक हद है,

---

* दर्वि होम, जो न किसी की प्रकृति है, न विकृति (आनन्दगिरि)।

† सेतु का अर्थ पुल है। पुल कीचड़ वा पानी पर से पार होने का मार्ग होता है। यह मट्टी के बन्ध भिन्न २ लोगों के खेतों की हद का काम भी देते हैं॥ मिलाओ मैत्रा० उप० ८।७, कठ० ३।२, मुण्ड० २।२।५।

जिससे कि यह लोक गड़बड़ा न जाए* इस सेतु को दिन और रात नहीं उलांघते, न जरा न मृत्यु, न शोक, न पुण्य न पाप ॥ १ ॥

मन्त्र में यह धर्म इस प्रकार वर्णन किया है:—

येन द्यौ रुग्रा पृथिवी च दृढ़ा येन स्वः स्तभितं येन नाकः । यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

(१०।१२१।५)

हम किस देव की हवि से पूजा करें ? (उसकी) जिस ने उग्र (तेजस्वी) द्यौ को और पृथिवी को दृढ़ किया है, जो स्वर्ग को और नरक को थामे हुए है† और जो अन्तरिक्ष में वायु को मापने वाला है ॥

सब कुछ उसके भय में चलता है, और उसकी आज्ञा को कोई नहीं उलांघता ।

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् । महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

---

* इसी की आज्ञा में यह सारा जगत् अपनी २ मर्यादा में काम कर रहा है ॥

† तात्पर्य्य यह है, कि जगत् उसके सहारे पर है, और उसकी मर्यादा में ठहरा हुआ है ॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।

(कठ० ६ । २, ३)

यह जो सारा जगत् (ब्रह्म से) निकला है, यह उस प्राण* (अपने असली जीवन, परब्रह्म) में कांपता है (चेष्टा कर रहा है अपने २ काम में नियम से चल रहा है, कभी मर्यादा को नहीं उल्लांघता है), वह (प्राणरूप परब्रह्म) एक

---

* यहां प्राण से अभिप्राय परब्रह्म से है, यह इस ब्रह्म-सूत्र में वर्णन किया है—

कम्पनात् (१ । ३ । ३९)

अर्थ—कांपने से (यहां प्राण ब्रह्म है)।

व्याख्या—यहां प्राण से ब्रह्म अभिप्रेत है, न कि भौतिक वायुरूप प्राण। क्योंकि यहां यह बतलाया है—

(१) कि सारा जगत् उससे कांपता है, सो सारा जगत् ब्रह्म से कांपता है, न कि वायु से। (२) और इससे अगले श्लोक में ही यह कहा है, कि वायु उसके भय से भागता है, सो यहां वायु को उसके भय के अन्दर कहा है: न कि भय का कारण (३) 'जो इसको जानते हैं वह अमृत होते हैं'। यह जो उसके जानने का फल मुक्ति बतलाई है, यह परब्रह्म के ज्ञान का फल है, न कि भौतिक वायु के ज्ञान का। (४) पूर्व श्लोक में भी यहां ब्रह्म का वर्णन है और अगले श्लोकों में भी, इस लिए यहां प्राण से परब्रह्म अभिप्रेत है।

बड़ा भय है जैसे उठाया हुआ वज्र* (भयरूप होता है), जो इस (भय के कारण, ब्रह्म) को जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं†।

इसके भय से अग्नि तपती है, भय से सूर्य्य तपता है, भय से इन्द्र, वायु और पांचवां मृत्यु भागता है (अपने काम में सदा तत्पर रहता है)। ३।

भीषाऽस्माद् वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः।

(तैत्ति० ८। १)

इसके भय से वायु बहता है, भय से सूर्य्य उदय होता है, इसके भय से अग्नि और इन्द्र और पांचवां मृत्यु भागता है॥

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।

---

* जैसा कि यह उठाया हुआ वज्र मेरे ही सिर पर पड़ेगा, यदि मैं इसके हुक्म को न मानूंगा, इस भय से दुनियां नियम से राजा आदि के शासन में चलती है, इस प्रकार यह अग्नि वायु सूर्य्य आदि जगत् इस ब्रह्म से ही कांपता हुआ नियम से अपने काम में प्रवृत्त रहता है।

† लोक में भय के कारण को देखकर मनुष्य मृत्यु के मुख में जाता है, पर जब इस भय को देख लेता है, जिससे डरकर सारा जगत अपनी मर्यादा में चल रहा है, तब वह मौत से छूट जाता है और अमर हो जाता है।

तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन

(कठ० ५।८; ६।१)

वही (शुक्र, चमकने वाला, स्वप्रकाश) है, वह ब्रह्म है, वही अमृत है, उसमें सारे लोक सहारा लिये हुए हैं, उस को कोई नहीं उलांघता है।

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन।

(कठ० ४।६)

जिससे सूर्य्य उदय होता है, और जिसमें अस्त होता है, सारे देवता उसमें प्रोए हुए हैं, उसको कोई नहीं उलांघता है।

इस महिमा का उपदेश मन्त्रों में इस प्रकार है—

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन।

(अथ० १०।७।३७)

वायु क्यों बन्द नहीं होता, मन क्यों दम नहीं लेता। पानी किस सचाई को चाहते हुए कभी नहीं ठहरते (यह सब किसके भय से सदा अपने काम में तत्पर रहते हैं)।

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षतां मनसा रेजमाने। यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम। (ऋ०१०।१२१।६)

हम किस देव की हवि से पूजा करें ? (उसकी) जिस की रक्षा से थमे हुए (अपनी मर्यादा में खड़े हुए) द्यौ और पृथिवी मन से कांपते हुए उसकी तरफ देखते हैं, और जिस के अधीन सूर्य्य उदय होकर चमकता है।

ब्रह्म स्वयं पूर्ण है और उस के काम पूर्ण हैं } पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । (बृह० ५ । २ । १)

पूर्ण है वह (ब्रह्म), पूर्ण है यह (जगत्) । पूर्ण से पूर्ण निकलता है । उस पूर्ण की पूर्णता को लेकर यह पूर्ण ही बाकी रहता है* ॥

ब्रह्म चेतन है और सब को जानने वाला है } नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।

(कठ० ५ । १३)

---

* जो स्वयं पूर्ण है, उसकी रचना में त्रुटि नहीं होती, और यह मनुष्य जब उस पूर्ण की पूर्णता का सहारा लेता है, तो उसकी सारी त्रुटियें भी दूर हो जाती हैं और यह पूर्ण ही बाकी रहता है।

नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन*, अकेला जो बहुतों की कामनाओं को रचता है, उसको जो धीर पुरुष आत्मा में स्थित देखते हैं, उनको सदा की शान्ति होती है, औरों को नहीं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तत् कारणं साङ्ख्य योगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः

(श्वेता० ६ । १३)

नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन, अकेला जो बहुतों की कामनाओं को रचता है। वह जो सब का कारण है, जो सांख्य और योग से जानने योग्य है, उस देवता को जानकर सारी फांसों से छूट जाता है।

प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐत० ३ । १)

प्रज्ञान ब्रह्म है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै० २ । ५)

ब्रह्म सत्य (सदा एक रस वर्तमान) ज्ञान (चेतन) और अनन्त है।

स ईक्षतेमाँल्लोकान् नु सृजा इति, स इमाँल्लोकानसृजत (ऐत० १ । १)

---

* सर्वान्तर्यामी होने से यह उसकी महिमा कही है, जैसे श्रोत्र का श्रोत्र (केन० १ । २)

उस (आत्मा) ने सोचा 'मैं लोकों को रचूं' तब उस ने इन लोकों को रचा।

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते।
(मुण्ड० १।१।९)

जो सबको जानता है, और सबको समझता है, जिस का तप ज्ञानमय है. उस परब्रह्म से यह ब्रह्म (हिरण्यगर्भ), नाम, रूप, और अन्न उत्पन्न होता है।

स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसार-मोक्षस्थितिबन्धहेतुः (श्वेता० ६।१५)

वह इस विश्व का बनाने वाला और इस विश्व का जानने वाला है, आत्मा है, सबका कारण है, चेतन है, काल का काल है, गुणी है, सब का जानने वाला है, प्रकृति और जीवात्मा का पति है, गुणों (सत्व, रजस्, तमस्) का मालिक है, संसार के मोक्ष, स्थिति, और बन्ध का हेतु है (उसको जानने से मोक्ष और न जानने से बन्ध है)।

मन्त्रों में यह विषय इस प्रकार वर्णन किया है—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः (ऋ० १।२५।७)

वह जो आकाश मार्ग से उड़ते हुए पक्षियों के खोज को जानता है, और समुद्र में रहता हुआ जहाज़ के खोज को जानता है।

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः।
वेदा य उप जायते। (ऋ० १।२५।८)

वह अटल नियमों वाला बारह महीनों को उनकी प्रजा* के साथ जानता है, और जानता है, जो कि (अधिक मास) उत्पन्न होता है।

वेद वातस्य वर्तनिमुरो ऋष्वस्य बृहतः।
वेदा ये अध्यासते। (ऋ० १।२५।९)

वह फैले हुए, ऊंचे और शक्ति वाले वायु के मार्ग को जानता है। वह जानता है (उन देवताओं को) जो ऊपर रहते हैं।

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा।
साम्राज्याय सुक्रतुः (ऋ० १।२५।१०)

जिसके नियम अटल हैं, जिसके ज्ञान और कर्म पवित्र हैं, वह वरुण, अपनी सारी प्रजाओं में सब पर राज्य करने के लिये आकर बैठा है।

अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि-

* उस २ समय में उत्पन्न होने वाली प्रजा।

पश्यति । कृतानि या च कर्त्वा । (ऋ० १।२५।११)

यहां से (प्रजाओं के अन्दर बैठकर) वह चेतनावान् सब अद्भुतों पर सीधी दृष्टि डालता है । जो (अद्भुत) किये गए हैं, और जो करने हैं ।

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् । द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुण स्तृतीयः ।

(अथ० ४ । १६ । २)

जो खड़ा है, जो चलता है, जो काम करता है, जो सोता है, जो जागता है, (राजा वरुण उस सबको जानता है)। दो मनुष्य इकट्ठे बैठकर जो मन्त्रणा (गुप्त सलाह) करते हैं, राजा वरुण उनमें तीसरे होकर उसको जानते हैं ।

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता । उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः (अथ० ४।१६।३)

यह भूमि भी राजा वरुण की है, और वह बड़ा द्यौ भी, जिसके किनारे दूर हैं। दोनों समुद्र (वायु का और जल का) वरुण की कुक्षी हैं, और वह पानी की इस छोटीसी बूंद में भी छिपा हुआ है ।

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्याते

वरुणस्य राज्ञः । दिवस्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अतिपश्यन्ति भूमिम् ।

(अथ० ४ । १६ । ४)

वह, जो उड़कर द्यौ से भी परे चला जाए, वह भी राजा वरुण से छूट नहीं सकता है। उसके गुप्तचर हजारों आंखों के साथ* द्यौ से इस भूमि पर दृष्टि डालते हैं।

न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन् । त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय ।

(अथ० ५ । ११ । ४)

हे प्रकृति के मालिक ! हे वरुण ! तुझ से बढ़कर कोई ऋषि (धर्ममार्ग का द्रष्टा) नहीं है, न बुद्धि में तुझ से बढ़कर कोई बुद्धिमान् है। तू उन सब भुवनों (हस्तियों) को पूरी तरह जानता है। अद्‌भुत शक्तियों वाला पुरुष भी तुझ से डरता है।

यो विश्वाऽभिविपश्यति भुवना सं च पश्यति। स नः पूषाऽविता भुवत् ।

(ऋ० ३ । ६२ । ९)

---

* हजार २ आंखों वाले गुप्तचर, यह राजा वरुण की उन शक्तियों से अभिप्राय है, जिनसे कोई गुप्त से गुप्त बात भी उनसे न छिपी रहती है, और न अधूरी दीखती है।

जिसकी सारी हस्तियों पर अलग २ दृष्टि है, और सब पर एक साथ दृष्टि है, वह पूषा हमारा सहायक हो।

ब्रह्म नित्य है अनादि और अनन्त है

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्य मगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते (कठ० ३।१५)

जो विना शब्द, बिना स्पर्श, बिन रूप, बिन व्यय (बिना खर्च होने के है, अनखुट्ट) है। बिन रस और बिन गन्ध के है, नित्य है, अनादि है, अनन्त है, महत्तत्व से परे है और अटल (एक रस) है, उसको जान कर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है।

नित्यो नित्यानां चेतनश्च चेतनानाम्।

(कठ० ५।१३; श्वेता० ६।११)

नित्यों का नित्य है चेतनों का चेतन है।

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्। जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्म-वादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्।

(श्वेता० ३।२१)

मैं इसको जानता हूं, जो पुराना है और अजर* है, सबका आत्मा है, और विभु होने से सर्वगत (सब में पहुंचा हुआ) है। ब्रह्मवादी (वेदों के उपदेष्टा) जिसके जन्म का अभाव बतलाते हैं, और बतलाते हैं कि वह नित्य है।

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्। विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। (श्वेता० ५।१३)

वह अनादि अनन्त है, इस घने संसार के मध्य में है, विश्व का रचने वाला है, अनेकरूप है (मूर्त, अमूर्त सब उसी के प्रकाशक हैं) सारे विश्व का एक घेरने वाला है, उस देव को जानकर सारी फांसों से छूट जाता है।

वेद में यह विषय इस प्रकार वर्णन किया है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीर मजरं युवानम्।

(अथ० १०।८।४४)

वह कामना से रहित है, धीर है, अमर है, अजन्मा है, आनन्द से तृप्त है, किसी से न्यून नहीं। उसको, हां केवल

---

* पुरानी वस्तु जीर्ण हो जाती है, पर ब्रह्म पुराना है, तथापि अजर है सदा नया है।

उसको जानकर ही, जो कि आत्मा है; धीर है, जरा रहित, युवा है, जानने वाला मृत्यु से नहीं डरता है।

ब्रह्म उत्पत्ति स्थिति और प्रलयका कारण है

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति।। तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति (तै० ३।१)

(वरुण का अपने पुत्र भृगु के प्रति उपदेश) जिससे यह भूत (जन्तु) उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं, और मरते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं, उसको जानने की इच्छा (प्रयत्न) कर, वह ब्रह्म है।

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्तीति। (तै० ३।६)

आनन्द (ब्रह्म) से ही यह सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द से जीते हैं, और मरते हुए आनन्द में प्रवेश करते हैं।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी

(मुण्ड० २।१।३)

इससे (ब्रह्म से) प्राण उत्पन्न होता है, मन, और सारे इन्द्रिय, आकाश, वायु, ज्योति, जल, और पृथिवी जो सबकी धारने वाली है।

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः।

(मुण्ड० २।१।६)

उससे आई हैं ऋचाएं, साम, यजु, (यह तीन प्रकार के मन्त्र), दीक्षाएं (यज्ञ के आरम्भ के नियम, मौञ्जी बन्धन आदि) सारे यज्ञ (अग्नि होत्र आदि) और क्रतु (सोम याग) और दक्षिणाएं (जो ऋत्विजों को दी जाती हैं), बरस* यज्ञ करने वाला, और लोक—जिन पर चन्द्र चमकता है और जिन पर सूर्य चमकता है।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।

(माण्डू० ६)

यह सब का ईश्वर है, यह सबका जानने वाला है, यह अन्तर्यामी है, यह सबका योनि (स्रोत) है, यह निःसंदेह सब भूतों का प्रभव और अप्यय (स्रोत और मुहाना, उत्पत्ति और लय का स्थान) है॥

---

* यज्ञ के करने में काल का नियम है, इसलिये काल भी यज्ञ का अङ्ग है।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्यो अन्नम्। अन्नात् पुरुषः (तै० २।१)

उस आत्मा (सर्वान्तरात्मा ब्रह्म) से आकाश उत्पन्न हुआ आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियें, ओषधियों से अन्न, और अन्न से पुरुष॥

मन्त्रों में यह विषय इस प्रकार वर्णन किया है—

तस्माद्विराडजायत विराजो अधिपूरुषः। स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमि मथो पुरः (ऋ० १०।९०।५)

उससे विराट् (समष्टि ब्रह्माण्ड) उत्पन्न हुआ विराट् से वह पुरुष प्रकट हुआ* और प्रकट होते ही ब्रह्माण्ड के वारपार फैल गया।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः।१।

---

* अभिप्राय यह है, कि विराट् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, और यह ब्रह्म को प्रकाशित करता है, मिलाओ अथर्व० १३।४।२९—४० से (वेदोपदेश पृष्ठ १०६—१०८)

समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत । अहो-
रात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ।२।
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्ष मथो स्वः । ३ ।

(१० । १९० । १—३)

चारों ओर चमकते हुए तप* से ऋत और सत्य† उत्पन्न हुआ । तब रात्री ‡ उत्पन्न हुई, उसके पीछे लहराता हुआ समुद्र § उत्पन्न हुआ । १ । लहराते हुए समुद्र से बरस॥

---

* तप=परमात्मा का जगत् रचने का ख्याल (देखो मुण्ड० १ । १)

† ऋत=नियम, जिनके द्वारा परमात्मा इस जगत् के नियन्ता हैं, और सत्य=धर्म ।

‡ रात्री=महारात्री=प्रलय, उत्पत्ति से पहले प्रकृति की निष्क्रियावस्था (देखो ऋ० १० । १२९ । ३ और मनु० १ । ५) । दिन रात वाली रात की उत्पत्ति आगे कहनी है ।

§ लहराता हुआ समुद्र=द्रवावस्था में प्रकृति, जिससे आगे विराट् उत्पन्न हुआ ।

॥ बरस, यहां हमारे बरस से अभिप्राय नहीं, किन्तु वह लम्बा समय अभिप्रेत है, जो प्रकृति में उत्पत्ति की पहली क्रिया से लेकर गोलाकार बनने तक लगा, क्योंकि बरस हर एक लोक का अपना २ अलग है और वह इतना है; जितने समय में उसकी एक गति समाप्त होती है । सो प्रकृति की

उत्पन्न हुआ और इस जाग्रत जगत् को वश में रखने वाले उस रचने हार ने दिन रात को बनाते हुए—। २। पहले की न्याईं सूर्य और चन्द्र, द्यौ और पृथिवी अन्तरिक्ष और स्वर् (वायु और ज्योति के स्थानों) को रचा। ३।

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः। स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश।

(ऋ० १०। ८१। १)

जो हमारा पिता (विश्वकर्मा) इन सारे भुवनों का होम करता हुआ होम करने वाला ऋषि बनकर बैठा *। उस ने इच्छा से धन की चाह की† और वह

एक गति तब समाप्त होती है, जब उससे एक गोला बन जाता है। उसके पीछे उस गोले की गति समझी जाती है इसलिये यहां बरस उस समय से अभिप्राय है, जिसको अङ्गरेजी में cyclic motion कहते हैं।

* प्रलय के समय होता बनकर जिसने सारी हस्तियों का होम कर दिया।

† यज्ञ में होता आशीर्मन्त्रों से अपने लिये धन (खज़ाने) मांगता है, जो यज्ञ का फल हैं। यहां भी विश्वकर्मा को जब होता के तौर पर वर्णन किया, तो उसका यह जो नित्य संकल्प है, कि प्रलय के पीछे फिर सृष्टि हो, यह आशीर्मन्त्र

पहला ढांपने वाला अब इन नये कार्यों में आविष्ट हुआ ‡।

यह सबका पालन पोषण करता है — एष सर्वेश्वर एष भूताधिपति रेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय (बृह० ४।४।२२)

यह सबका ईश्वर है, यह सारे जीवों का अधिपति है, यह सारे जीवों का पालक है, यह एक (अपनी २ मर्यादा में) धारण रखने वाला बन्द है, जिससे कि यह लोक आपस में न गड़ बड़ाएं॥

याथातथ्यतो ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः (ईश ८)

उसने लगातार चलने वाले बरसों के लिये यथायोग्य पदार्थों को रचा है॥

मन्त्रों में यह विषय इस प्रकार वर्णन किया है—

है, इसका फल यह है, कि उसने फिर ब्रह्माण्ड रूपी धन को पाया। यहां पहले सारे भुवनों का प्रलय और प्रलय के पीछे फिर उत्पत्ति कहने से यह सिद्ध किया है, कि यह प्रवाह से अनादि है।

‡ पहले जो प्रकृति को घेरे हुए प्रकृति का अधिष्ठाता था, अब वह प्रकृति को विकृति बनाकर उन सारी विकृतियों काव अधय क्षन।

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् । अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ।

(ऋ० १० । १२५ । ४)

मेरे द्वारा (मुझ से दिया हुआ) वह अन्न खाता है, जो देखता है, सांस लेता है और कहना सुनता है । वह न जानते हुए भी मेरे पास (मेरी गोद में) रहते हैं । सुन हे विख्याति वाले पुरुष ! मैं तुझे वह बात कहती हूं, जिस पर श्रद्धा होनी चाहिये ॥

वह सबका रक्षक और सब का सहारा है

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता । य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय । १७ । यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं ह देव मात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये (श्वेता० ६ । १७ । १८)

वह ज्योतिर्मय है, अमृत है, ईश्वर की मर्यादा वाला है.*

---

* जिसमें वह मर्यादा है, जो ईश्वर में होनी चाहिये ।

जानने वाला है, सब जगह पहुंचा हुआ है और इस भुवन का रक्षक है। जो इस जगत् पर सदा ही ईशान (हकूमत) करता है, दूसरा कोई इस (जगत्) पर ईशान करने के समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

जो पहले ब्रह्मा को बनाता है और उसके लिये वेदों को भेजता है, मुक्ति चाहता हुआ मैं उस देव की शरण पड़ता हूं, जो आत्मबुद्धि का प्रकाश करने वाला है ॥ १८ ॥

स एव काले भुवनस्यास्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः। यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेव ज्ञात्वा मृत्युपाशाँश्छिनत्ति।

(श्वेता० ४ । १५)

वही अपने समय पर इस भुवन का रक्षक है सबका स्वामी और सब भूतों में छिपा हुआ है। ब्रह्मर्षि और देवताओं ने जिसमें ध्यान लगाया है, उसको ठीक २ जानकर पुरुष मृत्यु की फांसों को काट देता है ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्।

(श्वेता० ३ । १७)

वह सारे इन्द्रियों के गुणों (देखने सुनने आदि) से चमकता है, और सारे इन्द्रियों से वर्जित है। वह सबका प्रभु है, सब पर हकूमत करता है, सबका शरण (पनाह) है, और सब से बड़ा है।

मन्त्रों में यह विषय इस प्रकार वर्णन किया है—

त्वं वर्मासि सप्रथः पुरोयोधश्च वृत्रहन् ।
त्वया प्रतिब्रुवे युजा (ऋ० ७ । ३१ । ६)

तू (मेरे शरीर का) कवच (ज़िरहबकतर) है बड़ा फैला हुआ । तू मेरा पुरोयोद्धा (आगे युद्ध करने वाला) है हे शत्रुओं के मारने वाले । तुझ मित्र के साथ मैं कोई परवाह नहीं करता हूं* ।

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे । शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ।

(ऋ० १० । ६४ । १३)

तू देवों का देव है, मित्र है, अद्भुत है, अमीरों का अमीर है, यज्ञ में सुहावना है, हम सदा तेरी शरण (पनाह) में रहें जो बड़ी दूर तक फैली हुई है । हे अग्ने हम तेरी मित्रता में मत हानि उठाएं ।

भवा वरूथं गृणते विभावो भवा मघवन् मघवद्भ्यः शर्म । (ऋ० १ । ५८ । ९)

हे बड़े प्रकाश के मालिक तुम अपनी स्तुति के करने

---

* प्रति ब्रुवे—अक्षरार्थ, मैं चैलेंज देता हूं ।

वाले के लिये घर हो, हे धन के मालिक ! धनवानों (यज्ञ करने वालों) के लिये शरण (पनाह) हो ।

वह आनन्दमय है और आनन्द का दाता है } रसो वै सः। रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्येवानन्दयाति ।
(तै० २ । ७)

वह रस है * । क्योंकि रस को पाकर ही यह (पुरुष) आनन्द भोगता है । कौन जी सकता, कौन प्राण लेसकता, यदि यह आकाश † आनन्द न होता । यह ही आनन्द का हेतु है ॥

एतमानन्दमय मात्मान मुपसंक्रामति ।
(तै० २ । ८)

---

* रस है, सार है । यह निःसार जगत् उसी से सार वाला है । यह नीरस उसी से रस वाला है । जिस तरह रस आनन्द का हेतु है । उसी तरह ब्रह्म परम आनन्द का हेतु है । ब्रह्म स्वयं इस जगत् को बनाकर उसके अन्दर रसरूप होकर प्रविष्ट हुआ है, विद्वान् इसके अन्दर से उस अमृतरस का उपभोग करते हैं, और इसी लिये वह बिना किसी बाहर के रस के उसी रस को पाकर तृप्त होजाते हैं (देखो कौषी० १ । ५

† अथवा आकाश में, हृदयाकाश में, आनन्द (ब्रह्म) न हो ।

वह इस आनन्दमय आत्मा को पहुंचता है।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन

(तै० २।६)

ब्रह्म के आनन्द को अनुभव करता हुआ वह किसी से नहीं डरता है।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति (तै० ३।६)

उसने (भृगु ने) आनन्द को ब्रह्म जाना, क्योंकि आनन्द से ही यह सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द से जीते हैं, और मरते हुए आनन्द में प्रवेश करते हैं।

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृह० ३।९।२८)

ब्रह्म विज्ञान स्वरूप है, आनन्द स्वरूप है।

एषोऽस्य परम आनन्दः। एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।

(बृह० ४।३।३२)

यह इसका परम आनन्द है। इसी आनन्द की दूसरे सारे प्राणधारी छोटी सी मात्रा उपभोग कर रहे हैं।

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः।

(छान्दो० ७। २३)

जो भूमा (निरतिशय, बेहद) है, वह सुख है, अल्प (हद वाले) में सुख नहीं है। केवल भूमा (बेहद) ही सुख है*। सो हमें भूमा की ही जिज्ञासा करनी चाहिये।

---

* भूमा=बड़ा, अभिप्राय निरतिशय (बेहद) से है। अल्प=छोटा, अभिप्राय सातिशय से है। जो वस्तु अल्प है, वह असली सुख का हेतु नहीं, क्योंकि अल्प वस्तु अधिक की तृष्णा का हेतु बनती है, और तृष्णा दुःख का बीज है। इसीलिये विषयसुख तृष्णा को बढ़ाकर उसका हेतु बनता है और तृष्णा दुःख का बीज है। सो यह विषय-सुख आपाततः (ज़ाहरा) सुख प्रतीत होता है, पर वस्तुतः दुःख का बीज होने से दुःखरूप ही है। हां वह भूमा ही है, जो केवल सुखरूप ही है, जब देखो, जहां देखो, जिधर देखो आनन्द ही आनन्द छाया हुआ है—

तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा।

(तै० २। ५)

प्रेम उसका सिर है मोद दायां पंख है, प्रमोद बायां पंख है, आनन्द उसका धड़ है।

यहां भूमा से अभिप्राय परमात्मा है, इसके लिये देखो ब्रह्मसूत्र १। ३। ८, ९।

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभाति (मुण्ड० २।२।७)

उसके (आत्मा के) विज्ञान से धीर पुरुष उस अमृत को देखते हैं, जो आनन्दरूप (आनन्द से भरा हुआ) प्रतीत होता है।

मन्त्रों में यह विषय इस प्रकार वर्णन किया है॥

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधि तिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

(अथर्व० १०।८।१)

उस परब्रह्म को नमस्कार है, जो उस सब पर हकूमत करता है, जो हो चुका है और जो होगा। और आनन्द जिसका केवल है (वह केवल आनन्दमय है, उसमें दुःख-लेश नहीं है)॥

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो रात्मानं धीर मजरं युवानम्।

(अथर्व० १०।८।४४)

वह कामना से रहित है, धीर है, अमर है और स्वयम्भू है अनन्द से तृप्त है, किसी से न्यून नहीं, उसको, हां, केवल उसको जानकर ही—जो कि आत्मा, धीर, जरारहित और युवा है—पुरुष मृत्यु से निर्भय होता है॥

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च । नमः शिवाय च शिवतराय च (यजु० १६ । ४१)

कल्याण के स्रोत और सुख के स्रोत को कल्याण के देने वाले और सुख के देने वाले को, कल्याण स्वरूप और परम कल्याण स्वरूप को हमारा वारम्वार नमस्कार हो ।

यह हमारा सर्वस्व है } एषाऽस्य परमागतिरेषाऽस्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः (बृह० ४।३।३२)

यह (ब्रह्म) इस (आत्मा) की परम गति है, यह इसकी परम सम्पदा है, यह इसका परमलोक है, यह इसका परम आनन्द है ॥

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, रातेर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विदः (बृह० ३ । ९ । २८)

विज्ञान स्वरूप और आनन्दस्वरूप ब्रह्म दान देने वाले का परमगति है, और (कामनाओं से उठकर) दृढ़ खड़े हुए उसके जानने वाले का परमगति है ॥

त्वमध्वर्युरुत होतासि पूर्व्यः प्रशास्ता पोता

जनुषा पुरोहितः । विश्वा विद्वाँ आर्त्विज्या धीर पुष्यस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ।

(ऋ० १ । ९४ । ६)

तू हमारा अध्वर्यु है, तूही हमारा मुख्य होता है, तू हमारा प्रशास्ता है और तू हमारा स्वभवतः पुरोहित है। सारे ऋत्वजों के कर्मों को जानता हुआ हे धीर तू ! उन कर्मों को पुष्टि देता है, हे अग्ने हम तेरी मित्रता में कभी हानि न उठाएं ॥

त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नस्त्वं वयस्कृत् तव जामयो वयम् । सं त्वा रायः शतिनः सं सहस्रिणः सुवीरं यन्ति व्रतपा मदाभ्य ।

(ऋ० १ । ३१ । १०)

हे अग्ने तू हमारा अनुग्राहक (मेहरबान) है, तू हमारा पिता है, तू आयु का देने वाला है, हम तेरे बन्धु हैं । हे धोके में न आने वाले ! तू जो अच्छे वीरों वाला है और नियमों का पति है, तेरे पास सैकड़ों और सहस्रों प्रकार के धन इकट्ठे हैं ॥

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ । अधा ते सुम्नमीमहे ।

(ऋ० ८ । ९८ । ११)

हे दयालो ! शतक्रतो ! (इन्द्र) तू हमारा पिता है, तू हमारी माता है । तब हम तुझ से कल्याण (बरकत) मांगते हैं ॥

अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित् सखायम् (ऋ० १० । ३ । ७)

मैं अग्नि को अपना पिता मानता हूं, अग्नि को भाई-चारा अग्नि को भाई और सदा एक रस रहने वाला सखा

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा । स नो जीवातवे कृधि (१० । १८६ । २)

हे वात तू हमारा पिता है, हमारा भाई है और हमारा सखा है सो तू हमें (उत्तम और दीर्घ) जीवन के लिये तय्यार कर ॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ।

(यजु० ३२ । १०)

वह हमारा बन्धु है, हमारा पिता है, हमारा विधाता (उत्पन्न करने वाला) है, वह सारे स्थानों को और सारे भुवनों (हस्तियों) को जानता है । उसमें देवता अमृत (अमर जीवन) को भोगते हुए तीसरे धाम (द्यौ) में रहते हैं ॥

वह स्वयं पाप रहित है हमेंपापसे बचाताहै और धर्म्म की ओर लाता है

सर्वेपाप्मनोऽतो निवर्तन्ते- ऽपहतपाप्माह्येषब्रह्मलोकः।

(छान्दो० ८।४।२)

सारे पाप इससे वापिस लौटते हैं (इसको नहीं छूते हैं) क्योंकि यह ब्रह्मलोक पाप से पृथक् (बरी) है।

स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः। उदेति हवै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद।

(छान्दो० १।६।६७)

यह सारे पापों से परे है। वह जो इस बात को ठीक२ जान लेता है, वह भी सारे पापों से ऊपर चढ़ जाता है।

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात् पदवित् तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेण।

(बृह० ४।४।२३)

यह (नेति नेति से वर्णित) ब्राह्मण की नित्य महिमा न कर्म से बड़ी होती है और न ही छोटी होती है। मनुष्य को चाहिये कि उसी का खोजी बने, उसका खोज लगाकर फिर पापकर्म से लिप्त नहीं होता है।

नैनं पाप्मा तरति, सर्वं पाप्मानं तरति।

नैनं पाप्मा तपति, सर्वं पाप्मानं तपति। विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति।
(बृह० ४।४।२३)

(जो आत्मा में आत्मा को देखता है) इसको पाप नहीं तैरता, यह हर एक पाप को स्वयं तैर जाता है। इसको पाप नहीं तपाता, हां, यह हर एक पाप को तपाता है। और यह पाप से रहित, मल से रहित और संशय से रहित हुआ (सच्चा) ब्राह्मण बनता है।

या ते रुद्र शिवा तनू रघोराऽपापकाशिनी। तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि। (श्वेता० ३।५, यजु० १६।२)

हे रुद्र जो तेरा स्वरूप न भयानक है, और न पापका प्रकाशक (उग्र, दण्डदाता) है, किन्तु मंगलमय है, हे गिरिशन्त! उस पूर्णानन्द स्वरूप से हमारी ओर दृष्टि निहारो।

सवृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्। धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वाऽऽत्मस्थममृतं विश्वधाम (श्वेता० ६।६)

वह (संसार-) वृक्ष के आकारों से और काल के आकारों से परे उनसे भिन्न है, जिससे यह प्रपञ्च (जगत्)

घुमाया जारहा है, वह धर्म का लाने वाला और पाप का हटाने वाला है, वह ऐश्वर्य का मालिक है, सारे विश्व का घर है, अमृत है उसको (पुरुष) अपने अन्दर जान कर (पा लेता है)।

मन्त्रों में यह विषय इस प्रकार वर्णन किया है—

इन्द्रश्च मृडयाति नो न नः पश्चादघं नशत्।
भद्रं भवाति नः पुरः (ऋ० २। ४१। ११)

जब इन्द्र हमारे ऊपर दयालु होता है, तो पाप हमारे पीछे नहीं पहुंचता (हमारा पीछा नहीं करता) और नेकी हमारे आगे होती है।

वह पवित्र है और पवित्रता का देने वाला है। } शुद्धमपापविद्धम् (ईश० ८।

यह शुद्ध है और पाप से वींधा हुआ नहीं है।

एकधैवानुद्रष्टव्य मेतदप्रमयं ध्रुवम्। विरजः पर आकाशदज आत्मा महान् ध्रुवः।

(बृह० ४। ४। २०)

इस अविनाशी अप्रमेय (सत्ता) को एक ही प्रकार से देखना चाहिये, यह मल से रहित, आकाश से परे, जन्म रहित आत्मा महान् और अविनाशी है।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।

तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः

(मुण्ड० २ । २ । ६)

सबसे ऊंचे सुनहरी कोश (मियान, हृदय) में निर्मल ब्रह्म है, जो निरवयव है, शुद्ध है, और ज्योतियों का ज्योति है। यह वह है, जिसको अपने आपके पहचानने वाले पहचानते हैं।

मन्त्रों में यह विषय इस प्रकार वर्णन किया है—

एतान्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना ।
शुद्धै रुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्ध आशीर्वान् ममत्तु ।७
इन्द्र शुद्धो न आगहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः ।
शुद्धो रयिं निधारय शुद्धो ममद्धि सोम्यः । ८ ।

(ऋ० ८ । ९५ । ७, ८)

आओ हम पवित्र साम से और पवित्र उक्थों (ऋग्वेद के भजनों) से इन्द्र की स्तुति करें, जो पवित्र हैं और सबसे बढ़ा हुआ है, वह पवित्र, हमारी आशाओं का मालिक, सदा हम पर प्रसन्न रहे ॥ ७ ॥

हे इन्द्र तुम पवित्र हो, पवित्र तुम अपनी पवित्र सहायताओं के साथ हमारी ओर आओ। तुम जो पवित्र हो, हमारे लिये धन को रख दो, और सोम से पूजा के योग्य पवित्र (देव) प्रसन्न रहो।

पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः।
यः पोता स पुनातु नः (ऋ० ९।६७।२२)

पवमान जो सबका पवित्र करने वाला है वह आज (अपनी) पवित्रता (की शक्ति) से हमें पवित्र करे।

वह हमारा प्रियतम है } तदेतत् प्रेयः पुत्रात्, प्रेयो वित्तात्, प्रेयो ऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियंब्रुवाणंब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्याद्। आत्मानमेव प्रियमुपासीत। स य आत्मनमेव प्रिय मुपास्ते, न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति (बृह० १।४।८)

सो यह पुत्र से अधिक प्यारा है, धन से अधिक प्यारा है और हर एक वस्तु से अधिक प्यारा है। यह सब से अधिक निकट है, जो यह आत्मा है।

अगर कोई पुरुष आत्मा के सिवाय किसी दूसरे को प्यारा कहता है, तो वह (पुरुष जो केवल आत्मा को प्यारा समझता है) उसको कह सकता है, कि 'वह अपने प्यारे को रोएगा' तो वैसा ही होगा, क्योंकि वह समर्थ है (ऐसा कहने का हक रखता है)। इस लिये चाहिये कि (पुरुष) आत्मा

को ही प्यारा समझ कर उपासे। वह जो आत्मा को ही प्यारा समझकर उपासता है, इसका प्यारा नश्वर* नहीं होता॥

मन्त्रों में इस विषय का इस प्रकार वर्णन है—

या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी।
अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे॥

(अथर्व० ११।४।६)

हे प्राण जो तेरा स्वरूप प्यारा है और जो प्रियतम है और जो तेरा औषध है, वह हमें जीवन के लिये दे॥

वह सत्य स्वरूप है } **सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म।**

(तै० २।१७)

ब्रह्म सत्य है ज्ञान है और अनन्त है।

† हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

---

* प्रमायुकं=मरने के स्वभाव वाला=नश्वर। जो आत्मभिन्न वस्तुओं को प्रेम पात्र बनाता है, उसका प्रेम पात्र नश्वर है, और वह उसके नाश में दुःख उठाता है। पर जिस का प्रियतम आत्मा है, वह सदा सुखी होता है, क्योंकि उस का प्रेम उसमें है, जिसके लिये जरा और मृत्यु नहीं, जो सदा एक रस है।

† देखो यजु० ४०।१७।

तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

(बृह० ५ । १५ । ईश० १)

सुवर्णमय (ज्योतिर्मय) पात्र (मण्डल) से सत्य ब्रह्म का मुख ढपा हुआ है । हे पूषन् तू उसको खोल दे, जिस से कि हम सत्य के स्वरूप का दर्शन करें * ।

सत्यंह्येव ब्रह्म (बृह० ५ । ४ । १)

ब्रह्म निःसंदेह सत्य स्वरूप है ।

अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति ।

(बृह० २ । ६ । ६)

उसका यह नाम है सत्य का सत्य (सचाई की सचाई) ।

वह अमृत है और मृत्युसे पार उतारने वाला है । — यस्मादर्वाक् संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते । तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥ यस्मिन् पञ्च पञ्च-जना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतो ऽमृतम् ।

(बृह० ४ । ४ । १६, १७)

बरस अपने नियत दिनों के द्वारा जिससे वरे ही चक्र खाता है, उसको सारे ही देवता उपासते हैं, जो ज्योतियों

---

* मिलाओ० मैत्रा० उप० ६ । ३ ।

का ज्योति है, आयु है, अमृत है, । १६ । जिसमें पांच पञ्चजन* और आकाश रहता है, मैं उसको आत्मा समझता हूं, मैं जो यह जानने वाला हूं, उसको ब्रह्म समझता हूं, मैं जो अमृत हूं, उसको अमृत समझता हूं । १६ ।

ब्रह्मैवेद ममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् (मुण्ड० २ । २ । ११)

ब्रह्म ही यह अमृतरूप सामने है, ब्रह्म पीछे है, ब्रह्म दाएं और बाएं है । यह नीचे और ऊपर फैला हुआ है, ब्रह्म ही यह सब कुछ है । यह सब से उत्तम है ॥

आनन्दरूपममृतं यद् विभाति (मुण्ड० २।२।७)

जो आनन्द से भरा हुआ अमृत प्रतीत होता है ।

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्ष मोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथ आत्मान मन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ।

(मुण्ड० २ । २ । ५)

जिसमें द्यौ, पृथिवी, और अन्तरिक्ष बुने हुए हैं, और

* गन्धर्व, पितृ, देवता, असुर और राक्षस; या चारों वर्ण और पाँचवाँ निषाद, या प्राण, आंख, कान, अन्न और मन (शंकराचार्य) ।

मन भी सारे इन्द्रियों के साथ जिसमें बुना हुआ है उसी एक (सर्वाश्रय) को जानो आत्मा। और सारी बातें छोड़दो। अमृत का यह सेतु (पुल) है (जो संसार महासागर से पार उतारता है)।

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्। सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः (छान्दो० ७।२६।२)

(ब्रह्म को) देखने वाला मृत्यु को नहीं देखता, न रोग को, न दुःख को। वह (ब्रह्म को) देखने वाला सबको देखता है, और सब प्रकार से सबको प्राप्त होता है॥

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेदयथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति [प्रश्न ६।६]

अरे जैसे रथ की नाभि में, इस प्रकार सारी कलाएं, जिस पर ठहरी हुई हैं, उस जानने योग्य पुरुष को जानो, जिससे कि तुम्हें मृत्यु पीड़ा न दे।

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा- जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति (श्वेता० १।६)

यह बृहन्त ब्रह्मचक्र जो सबको जीवन देने वाला और सब के लय का स्थान है, इसमें यह हंस (जीवात्मा) घुमाया जारहा है। जब वह (देह से) अलग अपने आपको और प्रेरने वाले (परमात्मा) को जानता है, तब वह उस (प्रेरने वाले) से प्यार किया हुआ अमृतत्व को प्राप्त होता है॥

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् । य एतद् विदुरमृतास्तेभवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति (श्वेता० ३ । १०)

इस (जगत्) से जो बहुत परे है, वह नीरूप है, नीरोग है। जो इसको जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं, और दूसरे दुःख में लीन होते हैं॥

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः । हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति (श्वेता०४।१७)

यह महान् आत्मा विश्वकर्मा (जिसके यह सारे काम हैं) देव सदा मनुष्यों के हृदय (हृदयाकाश) में स्थित है। हृदय से, विवेक बुद्धि से, मन से, वह प्रकाशित होता है, जो इसको जानते हैं, वे अमृत होजाते हैं॥

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।

अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धन मिवानलम् ॥

(श्वेता० ६ । १९)

निरवयव, निष्क्रिय, निर्विकार, निर्दोष, निर्लेप, अमृत का पुल, जिसने इन्धन को जला दिया है, उस अग्नि की तरह (देदीप्यमान) है ॥

मन्त्रों में यह विषय इस प्रकार वर्णन किया है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः । तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो रात्मानं धीर मजरं युवानम् ।

(अथर्व० १० । ८।४४)

वह कामना से रहित है, धीर है, अमृत है, स्वयम्भू है रस (आनन्द) से तृप्त है, किसी से ऊन नहीं। उसको, हां, केवल उसको जो कि आत्मा है, धीर है, जरा रहित और युवा है, जानकर ही जानने वाला पुरुष मृत्यु से नहीं डरता (मृत्यु से परे पहुंच जाता है)

यस्यच्छायाऽमृतम् (ऋ० १० । १२१ । २)

जिसकी छाया अमृत है ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (यजु० ३१ । १८)

मैं इस महान् पुरुष को जानता हूं, जो ज्योतिर्मय अन्धेरे से परे है, उसको जान कर ही पुरुष मृत्यु को उलांघता है, और कोई मार्ग चलने के लिये विद्यमान नहीं है ॥

वह हमें प्यार करता है और प्रसन्न होकर सब कुछ देता है। } जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ।

(श्वेता० १ । ६)

तब उससे प्यार किया हुआ वह अमृतत्व को प्राप्त होता है ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।

(मुण्ड० ३ । २ । ४, कठ० २ । २३)

न यह आत्मा वेद से पाया जासकता है, न मेधा से, न बहुत सुनने (सीखने) से, हां जिसको यह आप चुन लेता है, वह इसे पालेता है, उसके लिये यह आत्मा अपना स्वरूप खोल देता है ॥

ओ३मदा३मों ३पिबा३मों ३देवो वरुणः प्रजापतिः सविता २ ऽन्नमिहाऽहरदऽन्नपते२ ऽन्नमिहाहरा २ऽऽहरो३मिति ।

(छान्दो० १ । १२ । ५)

ओ३म्। हम खाएं, हम पियें, देव वरुण जो प्रजा का पालक और जन्मदाता है, वह हमारे लिये अन्न लाए। हे अन्न के मालिक अन्न लाओ, ओ३म्॥

मन्त्रों में यह विषय इस प्रकार वर्णन किया है—

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्। अमन्तवो मान्त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि।

(ऋ० १०। १२५। ४)

मेरे द्वारा वह अन्न खाता है, जो देखता है, सांस लेता है और कहना सुनता है। न जानते हुए वह मेरे पास रहते हैं, सुन हे सुने हुए! (हे जगत् में विख्यात पुरुष) मैं तुझे श्रद्धा के योग्य वचन कहती हूं॥

अहमेव स्वय मिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः। यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् (ऋ० १०।१२५।५)

मैं ही स्वयं यह बात कहती हूं, जो प्यारी है देवताओं के लिये और प्यारी है मनुष्यों के लिये, कि मैं जिसको प्यार करती हूं, उसको उग्र (तेजस्वी) बनाती हूं, उसको ब्राह्मण बनाती हूं, उसको ऋषि बनाती हूं, उसको सुमेधा बनाती हूं।

यस्मै त्वमायजसे स साधत्यनर्वा क्षेति

दधते सुवीर्यम् । स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिरग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव (ऋ० १ । ९४ । २)

जिस के लिये तुम आप यज्ञ करने वाले बनते हो। वह सफल होता है, शत्रु रहित होकर निवास करता है, और बड़ी वीरता को धारण करता है। वह बढ़ता है और पाप उसको नहीं व्यापता, हे अग्ने हम तेरी मित्रता में मत हानि उठाएं।

स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपावृधि।
अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः (ऋ० १ । ७ । ६)

हे वीर! हे सच्चे दानी! (इन्द्र) हमारे लिये इस मेघको खोल दो। तुम जो हमारे लिये कभी नांह नहीं करने वाले हो।

एवाह्यस्यसूनृता विरप्शी गोमती मही।
पक्वा शाखा न दाशुषे (ऋ० १ । ८ । ८)

ठीक इस (इन्द्र) की सच्ची और मीठी वाणी बहुत कहने वाली है (दान देने में बड़ी उदार है) गौओं वाली है (दूध के बहाने वाली है) पूजनीय है, जिसने (उसकी राह में दान) दिया है उसके लिये वह पकी टहनी की तरह है।

इन्द्रमीशान मोजसाऽभिस्तोमा अनूषत।

सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः ॥

(ऋ० १ । ११ । ८)

हमारे स्तोमों (स्तोत्रों) ने उस इन्द्र की स्तुति की है जो अपने बल से सब पर ईशान (हकूमत) करता है, जिसके सहस्रों अथवा उससे भी बढ़कर दान हैं ।

अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।

(ऋ० ४ । २६ । २)

मैंने आर्य के लिये भूमि दी है, मैंने हवि देने वाले मनुष्य के लिये वृष्टि दी है ।

वह स्वयं अभय है और अभय का दाता है } स वा एष महानज आत्मा-ऽजरोऽमरो ऽमृतोऽभयो-

ब्रह्म । अभयं वै ब्रह्म । अभयꣳहवै ब्रह्म भवति, य एवं वेद (बृह० ४ । ४ । २५)

यह महान् अजन्मा आत्मा, अजर, अमर, अमृत, अभय ब्रह्म है । ब्रह्म अभय है । और वह जो यह जानता है, अभय ब्रह्म बन जाता है * ।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्ये ऽनिरुक्ते

---

* अभय ब्रह्म को जानकर अभय हो जाता है ।

ऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति (तै० २।७)

जब वह इस (हृदयस्थ ब्रह्म) में अभय स्थिति पालेता है, जो (ब्रह्म) अदृश्य है, अशरीर है, और अनिरुक्त * है, और (किसी से) सहारा दिया हुआ नहीं है, तब वह अभय को पा लेता है। क्योंकि जब वह इसमें थोड़ासा भेद करता है, तब ही उसे भय होता है।

मन्त्र में यह विषय इस प्रकार वर्णन किया है—

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।
त्वामभिप्रणोनुमो जेतारम पराजितम् ॥

(ऋ० १।११।२)

हे इन्द्र ! हे बल के मालिक ! तेरी मित्रता में बलवान् होकर हम किसी से न डरें। तेरी ही हम बार२ स्तुति करते हैं, जिसकी सदा जय है, और कभी पराजय नहीं है।

वह साक्षी है और कर्मों का फल दाता है } एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरा-

---

* जिसका निर्वचन नहीं हो सकता, जो अपने अनुभव से ही ग्राह्य है।

त्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च (श्वेता० ६ । ११)

एक देव सारे भूतों में छिपा हुआ है, सर्वव्यापी है, सब भूतों का अन्तरात्मा है, कर्म्मों का अधिष्ठाता है, सब भूतों का घर है, साक्षी है, चेतन है, केवल (एक तत्त्व) है और निर्गुण है ।

विज्ञान मानन्दं ब्रह्म राते दातुः परायणं । तिष्ठमानस्य तद्विदः (बृह० ३ । ९ । २८)

ब्रह्म जो विज्ञान और आनन्द स्वरूप है, वह धन के दाता का परमगति है, और (एषणाओं से उठकर) दृढ़ खड़े हुए उस (ब्रह्म) के जानने वाले पुरुष का परमगति है * ।

मन्त्रों में यह विषय इस प्रकार वर्णन किया है:—

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टार मुत पूषणं भगम् । अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते (ऋ० १०।१२।२)

मैं उत्साह देने वाले सोम को धारण किये हूं, मैं त्वष्टा को, पूषा को और भग को (धारण किये हूं) । मैं हविवाले,

---

* दाता के लिये वह अपने भण्डार खोल देता है, और ज्ञानियों के लिये अपना स्वरूप ।

सोमरस बहाते हुए, शुद्धाचारी, यजमान के लिये धन (यज्ञ का फल) धारण किये हूं।

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पति रहं धनानि संजयामि शश्वतः। मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहंदाशुषे विभजामि भोजनम्।

(ऋ० १० । ४८ । १)

मैं सब बहुमूल्य वस्तुओं का मुखिया पति हूं, मैं सर्वदा रहने वाले धनों को जीतता हूं, मुझको सारे लोग पिता की तरह बुलाते हैं,मैं दाता को भोजन (भोग्यवस्तुएं) बांट देता हूं।

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत् तत्सत्यमङ्गिरः (ऋ० १ । १ । ६)

हे प्यारे अग्ने ! तुम जो दानी के लिये भला करोगे, हे अंगिरः ! यह तेरा ही अटल नियम है।

'ईश्वर कर्मों के फल दाता हैं' यह विषय ब्रह्म सूत्रों में ३ । २ । ३८ से ४१ तक निर्धारित किया है *।

---

* यहां प्रसंग से यह भी बतलाते हैं, कि वह दयालु और न्यायकारी है। दूसरे के दुःख को दूर करने की इच्छा दया है, और उसके किये अनुसार फल वा दण्ड देना न्याय है। वह कर्मों का फल दाता है, जैसा जिसने किया है, ठीक उसके अनुसार फल देता है, इस लिये वह न्यायकारी है।

इस जगत् में कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई अंगहीन है कोई दृढ़ अंगों वाला है, कोई रोगी है कोई नीरोग है, इस प्रकार के जो अनन्त भेद पाए जाते हैं, ये सब भेद हमारे अपने पैदा किये हुए हैं, ईश्वर में कोई विषमता नहीं, न वह किसी का पक्षपात करता है, न वह किसी से द्वेष रखता है। वह एक ही अटल नियम से सब पर शासन कर रहा है, इसलिये वह न्यायकारी है। पर यह सारे नियम मनुष्य के कल्याण के लिये हैं, इन सब में उस की मंगल इच्छा है। क्योंकि हम जितना पराधीन होते हैं, उतना ही दुःख उठाते हैं, और जितना स्वतन्त्र होते हैं उतना ही सुखी होते हैं।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वं मात्मवशं सुखम् ।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुख दुःखयोः । मनु०

अब विचारणीय यह है पाप में प्रवृत्ति मनुष्य को स्वतन्त्रता की ओर लाती है वा पर तन्त्रता की ओर लेजाती है। वह पुरुष जो विषयों का दास नहीं, पाप में प्रवृत्त नहीं होता। पाप में प्रवृत्ति इस बात का चिन्ह है, कि क्षुद्र विषयों ने उसको जीत लिया है। और जैसे गिरा हुआ पुरुष परतन्त्र होता है, और परतन्त्र हुआ और भी गिरता चला जाता है, जब तक कि वह ठोकरें खा २ कर नहीं चेतता और अपनी स्वतन्त्रता को फिर वापिस लाने की चेष्टा नहीं करता। इसी प्रकार पाप में प्रवृत्त हुआ (कुमार्ग में चलता हुआ) पुरुष दण्ड का भागी बनता है, ठोकरें खाता है इसलिये कि वह चेते, और दासत्व के बन्धनों को काट कर स्वाराज्य में प्रवेश

करे। सो यह नियम जो पाप में प्रवृत्त हुए पुरुष को ठोकरें देकर चिताते हैं, कि जागो, किस बन्धन में पड़े हो, उठो, इस बन्धन को काटो, और स्वतन्त्रता के राज्य में आओ, इनमें उसकी मंगल इच्छा है, यही दया है, इसी लिये वह दयालु है॥

मनुष्य पुण्य कर्म करता है, तो उसके अन्तः करण में शुद्ध वासनाएं उत्पन्न होती है, जिनके कारण वह पुण्य में ही प्रवृत्त होता है, पर यदि पाप कर्म करता है, तब उसके अन्तःकरण पर मलिन वासनाएं उत्पन्न होती हैं, जिनके कारण वह फिर पाप में ही प्रवृत्त होता है, और इस प्रकार मनुष्य पुण्य वा पाप के लम्बे मार्ग पर पड़ जाता है जैसा कि कहा है :—

पुण्यं प्रज्ञां वर्द्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः ।
विवृद्धप्रज्ञः पुरुषः पुण्यमेवाभिरोचते ॥
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ।
विनष्टप्रज्ञः पुरुषः पापमेवाभिरोचते ॥

पुण्य बार २ किया जाता हुआ प्रज्ञा (दानाई, समझ) को बढ़ाता है, और प्रज्ञा के बढ़ने से पुरुष फिर पुण्य को ही पसन्द करता है॥

पाप बार २ किया जाता हुआ प्रज्ञा को नष्ट कर देता है, और प्रज्ञा के नाश से पुरुष फिर पाप को ही पसन्द करता है॥

इस प्रकार जब मनुष्य पाप में प्रवृत्त हुआ पाप को ही पसन्द करने लग जाता है, तो पहले तो उसे ऊपर कही हुई ठोकरें जगाती रहती हैं, पर यदि ठोकरें खा २ कर भी उसने अपने आपको नहीं सम्भाला, और यह मनुष्यजन्म यूंही बीत गया, तो अब उसको मानुष जीवन न देकर पशु पक्षी और वनस्पति का जीवन दिया जाता है। कहा जाता है, कि यह उसके लिये दण्ड है, निःसन्देह है तो यह दण्ड, पर उस की बुरी चाल को देखकर परमात्मा को क्रोध नहीं आगया किन्तु दया आई है, और उसके मैले अन्तःकरण को धोने के लिये यह उपाय रचा है। दुःख देने के लिये नहीं, बदला लेने के लिये नहीं, किन्तु उसके अन्तःकरण को मलिन वासनाओं से शुद्ध करने के लिये, इस निचले जीवन में उतार दिया गया है। यहां काल पाकर जब उसकी वासनाएं मिट जाती हैं, अन्तःकरण पर वह मलिनता नहीं रहती, जो उसको पाप कर्म में बहाए ले जारही थी, तब उसको फिर मानुष देह देकर आगे बढ़ने के लिये छोड़ दिया जाता है। मनुष्य जब तक इस बन्धन से निर्मुक्त नहीं होता, उसकी यह दया बराबर साथ रहती है, वह किसी को सदा के नरक में नहीं डालते, किन्तु इस उपाय से बार २ (पाप के नरक से) निकालकर स्वर्ग (मोक्ष) के मार्ग पर डालते हैं, सो यह उनके न्याय की रीति में दया है।

लोक में न्याय करने में अपना फल अलग देखा जाता है, पर ईश्वर न्याय करने में अपना अलग फल न देखकर भी हमारा न्याय करते हैं, यह भी उनकी दया है।

वह ज्योतियों का ज्योति है और सारे चमक रहा है } हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः ।

(मुण्ड० २।२।९)

सबसे उत्तम सुनहरी कोश (हृदय) में निर्मल और निरवयव ब्रह्म है, वह शुद्ध है, ज्योतियों की ज्योति है, यह है, जिसको वे जानते हैं, जो अपने आपको पहचानते हैं।

यस्मादर्वाक् संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते ।
तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥

(बृह० ४।४।१६)

बरस दिनों के द्वारा जिससे वरे चक्र लगाता है,

ईश्वर जब न्याय करते हैं तो जो कुछ हमें देते हैं, अपने पास से देते हैं। हम सदा उनका दान भोगते हैं, यह भी उनकी दया है। जब वह हमें प्रेम करते हैं, तो उनकी हमारे ऊपर दया है, क्या इसमें कोई सन्देह हो सकता है ? पर हां उनका अटल न्याय-नियम टारे नहीं टरता, उसके साथ २ ही उनका प्रेम है उनकी दया है, और वह सबके ऊपर एक नियम से होती है, किसी पक्षपात से नहीं क्योंकि ईश्वर में अपनी सारी प्रजा के लिये कोई विषमता नहीं।

न्याय और दया के विषय में प्रमाण ऊपर आ ही चुके हैं यहां केवल युक्ति से विचार दिखला दिया है।

देवता उसको उपासते हैं, जो ज्योतियों का ज्योति है, आयु है, और अमृत है।

एष उ एव भामनीः, एष हि सर्वेषु लोकेषु भाति
(छान्दो० ४।१५।४)

यह ही भामनी है, क्योंकि यह सारे लोकों में चमकता है।

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु; इदं वाव तद् यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः (छान्दो० ३।१४।७)

अब वह ज्योति जो इस द्यौ से ऊपर चमकती है, सारे विश्व से ऊपर और हरएक से ऊपर, ऊंचे लोकों में, और जिनसे परे कोई ऊंचा नहीं है उन लोकों में (जो ब्रह्म ज्योति चमकती है), यही है वह, जो यह यहां (हृदय में) पुरुष के अन्दर ज्योति है*।

यही खोजने योग्य है और सब कुछ उसी की खोज देरहा है	तदेतत् पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा (बृह० १।४।७)

---

*यहां ज्योति से अभिप्राय ब्रह्म है, देखो (ब्रह्म सूत्र १।१।२४—२७)।

यह वस्तु हर एक मनुष्य को खोजने योग्य है, जो यह आत्मा है।

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात् पदवित् तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेण।

(बृह० ४। ४। २३)

यह (नेति नेति से वर्णित) ब्रह्मवेत्ता की नित्य महिमा कर्म से न बढ़ती है, न छोटी होती है, मनुष्य को चाहिये, कि उसका खोजी बने, उसको खोजकर पाप से लिप्त नहीं होता है

मन्त्रों में यह विषय इस प्रकार वर्णन हुआ है:—

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।

(ऋ० १०। ८२। ३)

जो हमारा पिता, जन्मदाता और विधाता है, जो सारे धामों (स्थानों) और सारे भुवनों (हस्तियों) को जानता है। जो एक ही सारे देवताओं का नाम धारने वाला है, दूसरे सारे भुवन उस सांझे प्रश्न को पहुंचते हैं †।

---

†सारे भुवनों से उसी एक की महिमा प्रकाशित होती है, इसलिये यह सारे भुवन उसी एक सांझे प्रश्न को हल कर रहे हैं। मिलाओ ऋ० १०। ९। ५ और अथर्व० १३।४।२९-४०

यह हमने ब्रह्म के मुख्य २ धर्मों का वर्णन किया है, पर जो प्रमाण यहां उद्धृत किये हैं, उन्हीं प्रमाणों में और भी धर्म ऐसे वर्णन हुए हैं, जिनका अलग शीर्षक (हैडिंग) देकर वर्णन नहीं किया गया। अब हम फिर पर और अपर ब्रह्मका भेद विस्तार से खोलना चाहते हैं*।

पर, अपर अथवा शुद्ध और शबल — उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप दो प्रकार से दिखलाया है, एक उसका केवल अपना निज स्वरूपमात्र, जिसमें बाहर का कोई सम्बन्ध नहीं। दूसरा उसका वह स्वरूप, जिसको यह सारा ब्रह्माण्ड हमारे सामने प्रकाशित करता है।

यह बात इस दृष्टान्त से स्पष्ट हो सकती है, कि यदि कोई हम से पूछे, आत्मा क्या है? तो हम उत्तर देंगे, कि जो आंख से देखता है, और कान से सुनता है, वह आत्मा है। अब यदि वह फिर पूछे, कि बेशक यह आत्मा है। पर तुम आंख और कान जो आत्मा नहीं है, उनको साथ रखकर आत्मा का स्वरूप बतला रहे हो। इनको अलग रहने दो जो आत्मा से अलग हैं, और तब उसका जो केवल स्वरूप है, वह मुझे बतलाओ। तब जो कुछ इसके उत्तर में कहना होगा, वही आत्मा का शुद्ध स्वरूप है।

इसी प्रकार यदि कोई हमसे पूछे कि ब्रह्म क्या है? तो हम उत्तर देंगे कि इस आश्चर्य रचना वाले जगत् को जो

---

*अगला विषय देखने से पहिले पूर्व पृष्ठ ५ से ८ तक फिर देखो।

रचने वाला है और नियन्ता है; वह ब्रह्म है । अब यदि वह फिर पूछे, कि बेशक यह ब्रह्म है, पर तुम इस जगत् को जो कि ब्रह्म का स्वरूपभूत नहीं है—साथ रखकर ब्रह्म का स्वरूप बतलाते हो, इस को अलग रहने दो, जो इसके स्वरूप से अलग है, और अब उसका जो केवल स्वरूप है, वह मुझे बतलाओ। तब जो कुछ इसके उत्तर में कहना होगा, वही उसका शुद्ध स्वरूप है। और जो जगत् के सम्बन्ध से वर्णन किया जाता है, वह उसका विशिष्ट वा शबल स्वरूप है।

शबल ब्रह्म भी दो प्रकार से निरूपण किया है, एक तो समष्टि (सारे के सारे) जगत् के अन्तरात्मा के रूप में। जैसा कि जब हम यह कहते हैं, कि जो इस शरीर को चला रहा है, वा इन सारे अवयवों को अपने २ काम में लगाता है, वह आत्मा है, तब हम आत्मा को सारे शरीर का प्रवर्तक अन्तरात्मा बतलाते हैं। और जब यह कहते हैं, कि जो आंख से देखता है, वह आत्मा है, इसी प्रकार जो कान से सुनता है, वह आत्मा है, तब हम आत्मा को व्यष्टि शरीर का अन्तरात्मा बतलाते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म के विषय में भी जब हम यह कहते हैं, कि जो इस समस्त जगत् के अन्दर रह कर इसका नियन्ता है, वह ब्रह्म है, तब हम ब्रह्म को समष्टि जगत् का अन्तरात्मा बतलाते हैं। और जब हम यह कहते हैं, कि जो सूर्य के अन्दर रह कर सूर्य का नियन्ता है, वह ब्रह्म है, इसी प्रकार जो अग्नि के अन्दर रह कर अग्नि का नियन्ता है, वह ब्रह्म है, तब हम उसको व्यष्टि जगत् का अन्तरात्मा बतलाते हैं।

समष्टि जगत् के अन्तरात्मा के रूप में उसे तीन प्रकार से

वर्णन किया है। एक तो जो इस जगत् की परमप्रकृति (असली उपादान कारण) है, जिसे माया भी कहते हैं, उसके अन्तरात्मा के रूप में। दूसरा—जब इस प्रकृति से यह जगत् सूक्ष्म-रूप में बन आता है, तब उसके अन्तरात्मा के रूप में। तीसरा—इस दृश्यमान स्थूल जगत् के अन्तरात्मा के रूप में। यह उस का तीन प्रकार का स्वरूप समष्टि जगत् से सम्बन्ध रखता है।

व्यष्टि जगत् के सम्बन्ध में उसे अनेक प्रकार से वर्णन किया है, क्योंकि व्यष्टियें (अलग २ अग्नि सूर्य आदि दैव पदार्थ) अनेक हैं।

व्यष्टि स्वरूप में ब्रह्म का वर्णन

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये (ईश० १५, बृह० ५।१५)

सुनहरी पात्र से (मेरे प्रियतम) सत्य का मुख ढपा हुआ है, हे पूषन् तू उसको खोल दे (उसका ढकना उठा दे) जिससे मैं सत्य के स्वरूप का दर्शन करूं।

यहां सुनहरी पात्र, सूर्य के ज्योतिर्मयमण्डल से अभिप्राय है, सर्वव्यापी परमात्मा का भक्त उदय होते हुए सूर्य को देखता हुआ उसमें अपने उपास्य देव की महिमा को देखता है। वह जानता है, कि इस झरोखे के अन्दर उसका प्रियतम (प्रीतम) उसको देख रहा है, तब वह स्वयं भी उसके दर्शन के लिये व्याकुल हो कर सूर्य से कहता है, हे पूषन्! तुम्हारे इस सुनहरी रूप के अन्दर मेरा प्रियतम छिपा हुआ है, तुम

अपने सुनहरी परदे को परे हटालो, और मुझे अपने प्रियतम का मुखड़ा देखने दो।

यह वचन जिस प्रेमके बल में कहा गया है, वह प्रेम तुम्हारे अन्दर एक बार जाग उठे, तो फिर सर्वव्यापी प्रियतम को जहां देखो, तहां पाओगे। यही आशय भिन्न २ देवताओं की उपासना से है—

तद् यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देव-मेतस्यैव सा विसृष्टि रेष उ ह्येव सर्वे देवाः।

(बृह० ४।१।६)

जो यह कहते हैं, कि उसको पूजो, उसको पूजो, इस प्रकार एक २ देव को (पूजने के लिये कहते हैं), यह इसी की विविध सृष्टि है, यह ही सारे देव है।

एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते एत-मग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः।

(ऐत० आ० ३।२।३।१२)

इस (परमात्मा) को ही ऋचा पढ़ने वाले ऋचाओं में विचारते हैं, इसी को अध्वर्यु अग्नि में उपासते हैं, इसी को साम गाने वाले महाव्रत में उपासते हैं।

इस प्रकार व्यष्टि रूप में उसकी महिमा अनेकरूपों में गाई है। और व्यष्टिरूप में प्रायः उन्हीं नामों से उसे पुकारा गया है, जिसके द्वारा उसकी महिमा गाई है। इसी प्रकार

मन्त्रों में यह व्यष्टि रूप में उस ब्रह्म ही की उपासना है, जो यह अग्नि, वायु, सूर्य इन्द्र आदि की उपासना है। और यह महिमा जैसी कि अधिदैवत में है, वैसी ही अध्यात्म में है—

'य एषोऽक्षणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेतिहोवाच एतदमृतमभयं मेतद् ब्रह्मेति ।

[छान्दो० ४ । १५ । १]

उसने कहा 'यह जो आंख में पुरुष* (नेत्र का नेत्र) दीखता है, यह आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है'।

इस प्रकार सर्वान्तर्यामी की महिमा को हम सब जगह देख सकते हैं, अपने अन्दर भी और अपने बाहर भी। उसकी सत्ता का प्रकाश जैसे सूर्य में है, वैसे ही हमारे नेत्र में है। अतएव अन्तर्यामि ब्राह्मण (बृह० ३ । ७) में देवता, लोक, वेद, यज्ञ, भूत, इन्द्रिय और आत्मा में अलग २ उसकी अन्तर्यामिता दिखलाई है। और इन सबको उसका शरीर बतलाया है। अग्नि, वायु, इन्द्र, सूर्य, मित्र, वरुण, आदि यह सब उसके व्यष्टिरूप हैं† व्यष्टिरूप से उसकी महिमा और ऐश्वर्य का एक हिस्सा प्रगट होता है। पर उसकी सम्पूर्ण महिमा समष्टि रूप से प्रगट होती है, सो व्यष्टि के अनन्तर अब समष्टि का वर्णन करते हैं—

---

*यहां 'आंख में पुरुष' परब्रह्म से अभिप्राय है, देखो ब्रह्मसूत्र १ । २ । १३—१७

†पूर्व जो इन्द्र वरुण, अग्नि आदि देवताओं के मन्त्र

विराट् का वर्णन } अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः
श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी

प्रमाण दिए हैं, वह सब ब्रह्म की व्यष्टि महिमा का वर्णन है, इसी अभिप्राय से गीता में कहा है—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् । २१ ।
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधन मीहते ।
लभतेचततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्[गीता०७।२२]

जो २ पुरुष जिस २ स्वरूप (व्यष्टिरूप) को श्रद्धा भक्ति से पूजना चाहता है, उस २ की उसी श्रद्धा को भगवान् अचल (न हिलने वाला) बनाते हैं । २१ । वह उस श्रद्धा से युक्त हुआ उसी स्वरूप का आराधन करता है और वह उस से उन कामनाओं को लाभ करता है, जो परमात्मा से ही दी गई हैं ॥ २२ ॥

इन्द्र वरुण आदि द्वारा उसकी जिस २ व्यष्टि महिमा का प्रकाश होता है, यह हम अलग दिखलायेंगे । यम से उस का जो स्वरूप अभिप्रेत है, वह कठ की भूमिका में दर्शाया है, और वैश्वानर से जो स्वरूप अभिप्रेत है, वह छान्दोग्य ५ । १८ में दिखलाया है, और भी उपनिषदों में कई एक व्यष्टि स्वरूपों का अपने २ स्थान पर वर्णन हुआ है ॥

ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा (मुण्ड० २ । १ । ४)

अग्नि (द्यौ लोक) इसका मूर्धा (सिर) है, सूर्य और चन्द्र इसके नेत्र हैं, दिशाएं श्रोत्र हैं, और खुले वेद इसकी वाणी है। वायु प्राण है, विश्व हृदय है, और पृथिवी पाओं है, क्योंकि यह सब भूतों का निःसन्देह अन्तरात्मा है।

जिस प्रकार शरीर से अलग जीवात्मा शरीर के अंदर मूर्धा और नेत्र आदि सारे अवयवों से कार्य आरम्भ करता है, इस प्रकार सूर्य आदि अवयवों से कार्य करने वाला सब का अन्तरात्मा इनसे अलग है। वही ब्रह्म जो शुद्ध रूप में परब्रह्म कहलाता है वही इस रूप में विराट्, पुरुष और विष्णु कहा जाता है। रूपक अलंकार से श्री (सम्पदा) और लक्ष्मी (सौंदर्य) इसी की पत्नियें* वर्णन की हैं। पुरुष सूक्त (ऋ० १० । ९० और यजु० अ० ३१) में इसी स्वरूप का वर्णन है†।

---

*श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ (यजु० ३१ । २२)

† गीता (११ । ३९-४०) में इस स्वरूप का इस प्रकार वर्णन है—

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमोनमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमोनमस्ते । ३९
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसिसर्वः । ४०

तू वायु है, अग्नि है, वरुण है, चन्द्र है, प्रजापति है, और पितामह (ब्रह्मा) का भी पिता है। तुझे हजार बार नमस्कार हो। ३९।

ब्रह्म का वर्णन

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव वि-
श्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
(मुण्ड० १।१)

देवताओं के मध्य में ब्रह्मा पहले प्रकट हुआ जो विश्व का कर्ता और भुवन का रक्षक है ॥

जब प्रकृति में इस जगत् की रचना के लिये क्षोभ उत्पन्न होता है, तो एकदम यह स्थूल जगत् उत्पन्न नहीं हो जाता, किन्तु पहले एक सूक्ष्म सृष्टि बनती है, जिसको इस स्थूल जगत का कारण या बीज कहते हैं। उस सूक्ष्मसृष्टि को आर्ष ग्रन्थों में जल या समुद्र के नामों से लिखा है। अघमर्षण मन्त्रों (ऋतंच सत्यं ऋग् १०।१९०।१—३) में 'समुद्रो अर्णवः' 'लहराता हुआ समुद्र' से इसी समुद्र की सृष्टि कही है। क्योंकि प्रलय (रात्री) के पीछे यही सूक्ष्मसृष्टि उत्पन्न होती है, पृथिवी का समुद्र पृथिवी के बनने से पहले नहीं हो सकता, सो यह लहराता हुआ समुद्र सूक्ष्मसृष्टि का है। मनु० १।८ में इसी सूक्ष्मसृष्टि को जल कहा है। इस सूक्ष्मसृष्टि को समुद्र वा जल कहने से यह अभिप्राय है, कि यह समुद्र की तरह सारे भर जाती है और बहते हुए पानी की तरह इसमें क्रिया रहती है, पतली होती है, और इस जगत् का

नमस्कार हो तुझे सामने से, नमस्कार हो पीछे से, हे सर्व ! तुझे सब ओर से ही नमस्कार हो। हे अनन्त शक्ति तू अपरिमित पराक्रम वाला है, तू सबको एकसाथ प्राप्त है (सब में समाया हुआ है) इसलिये तू सर्व है ॥ ४० ॥

बीज है। यहां सूक्ष्मसृष्टि ब्रह्म का शरीर है, इसी शरीर वाला ब्रह्म ब्रह्मा हिरण्यगर्भ, परमेष्ठी, तैजस, प्राण वा सूत्रात्मा कहलाता है। मन्त्रों में हिरण्यगर्भ सूक्त (ऋ० १०। १२१) में सारा इसी का वर्णन है।

ईश्वर का वर्णन — सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदꣳसर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत् सृष्ट्वातदेवानु प्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चा निरुक्तं च। सत्यं चानृतं च। सत्यमभवत्। यदिदं किञ्च। तत्सत्य मित्याचक्षते (तै० २। ६)

उसने (ईश्वर ने) चाहा, कि मैं बहुत हो जाऊं, मैं प्रजा वाला होऊं। तब उसने तप तपा। तप तपने के पीछे उसने इस सबको रचा, जो कुछ यह है। इसको रचकर वह इसमें प्रविष्ट हुआ। इसमें प्रवेश करके वह सत् (जो कुछ व्यक्त) है और त्यत् (जो कुछ व्यक्त नहीं है) हो गया। निरुक्त जो (दूसरों से निखेरा जा सकता है अर्थात् अलग करके बतलाया जा सकता है) और अनिरुक्त (जो निखेर कर नहीं बतलाया जा सकता) निलयन (दूसरों का आधार) और अनिलयन (अनाधार) विज्ञान (चेतन) और अवि-

ज्ञान (अचेतन) सत्य और झूठ* (यह सब) सत्य (ईश्वर) हो गया। जो कुछ यह है, इसको सत्य कहते हैं† ।

जैसे वही ब्रह्म स्थूल सृष्टि का अधिष्ठाता होकर विराट्, और सूक्ष्म सृष्टि का अधिष्ठाता होकर ब्रह्मा कहलाता है, इसी प्रकार सूक्ष्म की रचना से भी पहले वह प्रकृति का अधिष्ठाता होकर ईश्वर कहलाता है—(जैसा कि श्वेता० ४ । १०)

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

---

* जो हमारे इन्द्रियों को सच्चा और झूठा प्रतीत होता है।

† ब्रह्म सारे भुवन में प्रविष्ट हो रूप २ के प्रतिरूप होकर अनेक शबल (अपर) रूप धारण किये हुए हैं (कठ० ५।९)

पर यह सब प्रलय में एकरूप था। जैसे पिता चाहता है, कि मैं एक से अनेक हो जाऊं, मेरी सन्तति बढ़े, यह इच्छा उसके बहुत होने का बीज है, इसी प्रकार सृष्टि से पहले 'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' यह इच्छा ईश्वर में प्रकट हुई और जैसे तपश्चर्या (ब्रह्मचर्य व्रतों) के पीछे पुरुष को सन्तानोत्पादन का अधिकार है। इसी प्रकार ईश्वर ने भी पहले तप तपा और यह तप सृष्टि के रचने की आलोचना थी, फिर सृष्टि को रचा, और रचकर वह स्वयं इसमें प्रविष्ट हुआ। इस प्रविष्ट होने से यह अभिप्राय है, कि उसने अलग रहकर इसको नहीं बनाया, किन्तु स्वयं अन्तरात्मा होकर अपना शरीर जो प्रकृति है उसको अनेक रूपों में बदल दिया। यह उसके सारे शबल रूप हैं, इसी लिये इस रीति पर कहा है, कि वह इसमें प्रविष्ट होकर सत्त्यत् हो गया इत्यादि। मिलाओ छन्दो० ६।२।१ से।

प्रकृति को माया जानो और मायी (माया वाले) को महेश्वर॥

यह ध्यान रखना चाहिये, कि जितने शबल रूप हैं, व्यष्टि वा समष्टि, उन सब में बाहर के रूप को उसका शरीर और ब्रह्म को शरीरधारी आत्मा मानकर इस तरह वर्णन किया है जैसे शरीरधारी पुरुष का वर्णन होता है। सो हम ईश्वर कहने में ब्रह्म को प्रकृति का अधिष्ठाता इस रीति पर वर्णन करते हैं, कि प्रकृति उसका शरीर है, और वह इसका आत्मा है। इस रूप में (प्रकृति रूपी शरीर के साथ एक होकर) वह ईश्वर है, इसी लिये श्वेताश्वतर में सारा मन्त्र इस तरह पढ़ा है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदंजगत्।

(श्वेता० ४। १०)

माया को प्रकृति जानो और मायी को महेश्वर, उस (महेश्वर) के अवयवरूपों से यह सारा जगत पूर्ण हो रहा है।

यही बात तैत्तिरीय के प्रमाण में भी प्रकट होती है, जो ऊपर टिप्पणी (नोट) में दर्शादी है। छान्दोग्य ६।२।१ का भी यही अभिप्राय है।

सब भूतों की इसी रूप से उत्पत्ति और इसी में प्रलय होता है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च (मुण्ड० १।१।७)

जैसे मकड़ी (तन्तुओं को) छोड़ती है और (फिर अपने अन्दर) समेट लेती है।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येषयोनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।

(माण्डू० ६)

यह सबका ईश्वर है, यह सबका जानने वाला है, यह अन्तर्यामी है, यह सबका योनि है, यह निःसन्देह सब भूतों का प्रभव और अप्यय (जोग और मुहाना उत्पत्ति और लय का स्थान) है।

यहां तक ब्रह्म का जो स्वरूप वर्णन हुआ है, यह सब अपर ब्रह्म कहलाता है, परब्रह्म का स्वरूप इससे परे है। जो इस प्रकार वर्णन किया है—

पर ब्रह्म का वर्णन

सहोवाच 'एतद्वैतदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्त्य स्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेह मच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धम चक्षुष्कम श्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कम प्राणममुखम मात्र मनन्तरमबाह्यं, न तदश्नाति किञ्चन, न तदश्नाति कश्चन (बृह० ३ । ८ । ८)

याज्ञवल्क्य ने कहा हे गार्गि ! इसको ब्राह्मण (ब्रह्म के जानने वाले) अक्षर (अविनाशि, कूटस्थ) कहते हैं, वह

न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न लम्बा है, न (अग्नि की नाईं) लाल है, बिना स्नेह के है, बिना छाया के है, बिना अन्धेरे के है, न वायु है, न आकाश है, वह असंग* है, रस से रहित है, गन्ध से रहित है, उसके नेत्र नहीं, उसके कान नहीं, उसके वाणी नहीं, उसके मुख नहीं, उसकी मात्रा (परिमाण) नहीं, उसके कुछ अन्दर नहीं, उसके कुछ बाहर नहीं, न वह किसी को भोगता है, न कोई उसको उपभोग करता है॥ इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म का वर्णन निषेधमुख वाक्यों से (नेति नेति से) किया जाता है—

अथात आदेशो नेति नेति। न ह्येतस्मा-दिति नेत्यन्यत् परमस्ति (बृह० २।३।६)

अब आगे ब्रह्म (पर ब्रह्म) का उपदेश है, नेति नेति (नहीं है इस प्रकार, नहीं है इस प्रकार) क्योंकि (ब्रह्म) इस प्रकार नहीं है, इससे बढ़कर दूसरा ब्रह्म के बतलाने का मार्ग नहीं है।

स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते-ऽशीर्यो न हि शीर्यते, असङ्गो न हि सज्यते, असितो न व्यथते न रिष्यति।

(बृह० ३।९।२६; ४।४।२२)

---

* किसी से जुड़ा हुआ नहीं, जैसे सरेस से वस्तु जुड़ जाती है।

यह आत्मा नेति नेति (से वर्णित) अग्राह्य (उन वस्तुओं की नाईं नहीं, जो हाथ से पकड़ी जाती हैं) है क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जाता, अटूट्य है, क्योंकि तोड़ा नहीं जाता, असंग है, क्योंकि जोड़ा नहीं जाता, बन्धन रहित है, न थकता है, न नष्ट होता है।

इस प्रकार ब्रह्म का वर्णन बहुधा निषेधमुख वाक्यों से ही किया गया है, पर कहीं २ कोई २ विधि शब्द भी प्रयुक्त हुआ है, और वह केवल यही शब्द हैं—वह शुद्ध है, शुभ्र है, केवल है, सत्य है, ध्रुव है, ज्ञान है, प्रकाश है, आनन्द है, नित्य है, स्वयम्भू है। इन सबको मिलाकर यह कह सकते हैं, कि वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है।

सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् । सह ब्रह्मणा विपश्चिता (तै० २ । १)

जो ब्रह्म (पर ब्रह्म न कि अपर) को जानता है, जो सत्य (सदा एक रस वर्तमान) ज्ञान और अनन्त है, (और हृदय की) गुफा के अन्दर परम आकाश (हृदयाकाश) में छिपा हुआ है, वह एक दम उस सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ सारी कामनाओं को भोगता है।

हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदोविदुः
(मुण्ड० २ । २ । ९)

सुनहरी परमकोश (हृदय) में निर्मल निरवयव ब्रह्म है, वह शुभ्र है, ज्योतियों का ज्योति है, उसको वे जानते हैं, जिन्होंने अपने आपको पहचाना है।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः। (मुण्ड० २। १२)

वह दिव्य पुरुष बिना मूर्ति के है, बाहर और अन्दर दोनों जगह है। अजन्मा है, बिना प्राण और मन के है, शुभ्र है, अक्षर (अव्यक्त, प्रकृति) जो कि (सारे कार्य जगत् से) परे है, उससे भी वह परे है।

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः (श्वेता० २। ५)

जब सावधान होकर दीपक के सदृश आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व को देखे, जो अज, ध्रुव और सारे तत्त्वों से अलग है, तब वह उस देव को जानकर सारी फांसों से छूट जाता है।

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः (ईश० ८)

उसने पालिया है उसको, जो प्रकाश स्वरूप, बिना शरीर बिना व्रण और बिना नाड़ियों के है, शुद्ध है, पाप के गन्ध से वर्जित है, कवि है, अन्तर्यामी है, सबका घेरने वाला है, स्वयम्भू है, और जिसने लगातार चलने वाले वर्षों के लिये अर्थों (योग्य पदार्थों) को रचा है।

विज्ञान मानन्दं ब्रह्म (बृह० ३।९।२८)

ब्रह्म विज्ञान और आनन्द स्वरूप है।

पर अपर का सारांश — इस पर और अपर के विचार का सार यह है कि ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप परब्रह्म है, और विशिष्ट स्वरूप अपरब्रह्म है। विशिष्ट स्वरूप के समष्टि और व्यष्टि भेद से पहले दो भेद हैं। फिर समष्टि के तीन भेद हैं। ईश्वर, ब्रह्मा, और विराट्। शुद्ध स्वरूप उसका अपना केवल स्वरूप है, और प्रकृति जो नित्य है, उसके साथ विशिष्ट होकर वह ईश्वर कहलाता है। प्रकृति से नीचे उतर कर सारा कार्य जगत् है, उसके साथ विशिष्ट होकर वह भिन्न २ देवता कहलाता है। पहला कार्य जो सूक्ष्मसृष्टि है, उससे विशिष्ट होकर ब्रह्मा कहलाता है, यही देवताओं में पहला देवता है, सूक्ष्म के पीछे स्थूल जगत से विशिष्ट होकर विराट् कहलाता है। यह तीनों समष्टि के भेद हैं। व्यष्टि के साथ विशिष्ट होकर वह इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि नामों से पुकारा जाता है। पर इन सारी अवस्थाओं में है वही एक, भेद कुछ नहीं।

स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः।

(तै० ३। १०)

जो यहां पुरुष में (हृदयाकाश में शुद्ध स्वरूप) है, और जो वहां सूर्य में है। वह एक है।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।

(कठ० ४। १०)

जो यहां है, वही वहां है, जो वहां है, वही फिर यहां है। वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, जो इसमें भेद सा देखता है।

वह एक है और एक तत्व है

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च (श्वेता० ६। ११)

वह देव एक है, सारे भूतों में छिपा हुआ है, सर्वव्यापक है, सब भूतों का अन्तरात्मा है, कर्मों का अधिष्ठाता है, सब भूतों का आधार है, साक्षी है, चेतन है, केवल (शुद्ध, एक तत्त्व) है, और निर्गुण है।

मन्त्रों में यह विषय इस प्रकार वर्णन किया है:—

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसंचान्नं चान्नाद्यं च।१४। य एतदेवमेकवृतं वेद।१५। न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।१६। न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।१७।

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।१८।
स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणिति यच्च न।१९।
तमिदं निगतं सहः स एष एकएकवृदेकएव।२०।
सर्वेअस्मिन्देवा एकवृतोभवन्ति । २१ ।

कीर्ति, यश, शक्ति, मेघ, ब्रह्मवर्चस, अन्न और पुष्टि देने वाली वस्तुएं (उसके लिये हैं)। १४। जो इस एकवृत् (जो एक ही तत्व है, दो तत्वों के मेल से नहीं बना) देव को जानता है ॥ १५ ॥
वह न दूसरा है, न तीसरा है, न ही चौथा कहलाता है ।१६।
न पांचवां है, न छटा है, न ही सातवां कहलाता है । १७ ।
न आठवां है, न नवां है, न ही दसवां कहलाता है । १८ ।

वह उस सबको देखता है, जो सांस लेता है, और जो नहीं (सांस लेता) । १९ । इसमें जीतने की शक्ति भरपूर है, वह एक है, एकवृत् है और एक ही है । २० ।

सारे देवता इसमें एकवृत् होते हैं (अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण आदि भिन्न देवता वही एक तत्त्व है, उसी एक सत्ता को विद्वान् अनेक प्रकार से कहते हैं* । २१ ।)

उपसंहार } वह स्वरूप में एक है, अपनी शक्तियों में एक है और वही एक पूजनीय है, यह सब ऊपर के प्रमाणों से प्रमाणित होता है। यहां इस विषय को समाप्त करते हैं, पर अभी ब्रह्म के विषय में और बहुत कुछ लिखना है, जो उपासना और ज्ञान के प्रकरण में लिखा जायगा ।

* एक होने के कई प्रमाण पीछे आचुके हैं, यहां उन का दुहराना अनावश्यक है ॥

दूसरा अध्याय (आत्मा के वर्णन में)

आत्मा की पहचान और उस का फल

आत्मानंचेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन् कस्य कामाय शरीर मनुसंज्वरेत् । १२ । यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन् संदेह्ये गहने प्रविष्टः । स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव । १३ । इहैवसन्तोऽथविद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महतीविनष्टिः । य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति

(बृह० ४ । ४)

पुरुष यदि अपने आपको जान ले, कि 'मैं यह हूं' तो फिर वह क्या चाहता हुआ, किस कामना के लिये, शरीर के पीछे सन्तप्त हो* । १२ । खतरे वाले इस घने जंगल (संसार)

---

* शरीर के सन्ताप से आत्मा संतप्त होता है, क्योंकि वह अपने स्वरूप को अलग नहीं समझता । जब वह अपने स्वरूप को अलग करके पहचान ले, तो फिर वह शरीर के सन्ताप से सन्तप्त नहीं होगा ॥

में प्रविष्ट हुआ जिसको आत्मा (अपना आप) ढूंढा गया है, और जाग उठा है, वह कृतकृत्य है, हां, उसने अपने सारे काम बना लिये हैं। दुनिया उसकी है, हां वह स्वयं एक दुनिया ही है*। १३। हम अब तक यहां हैं (जीते हैं) तभी तक उसको जान सकते हैं (और याद रक्खो) यदि यहां नहीं जाना, तो बड़ा भारी विनाश है। जो उसको जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं और दूसरे दुःख में ही डूबते हैं।१४

आत्मा चैतन्यरूप है } एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा

कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः (प्रश्न० ४ । ९)

यह चैतन्यस्वभावी पुरुष (इस देह में) देखने, छूने, सुनने, सूंघने, रस लेने (चखने), मानने, जानने और करने वाला है† ।

---

* दुनिया जो हमें घबराहट में भी डालती है, उसके लिये केवल शान्ति का हेतु है। और फिर हम अपने आत्मा में कोई तृप्ति न पाकर तृप्त होने के लिये इस दुनिया की ओर दौड़ते हैं; पर आत्मवेत्ता अपने आप में तृप्त है। उसकी खेल आत्मा में है, खेल का रस (मज़ा) आत्मा में है। सचमुच वह अपने आप में एक बड़ी दुनिया है, जहां उसके लिये सब कुछ है; और कोई कमी नहीं है॥

† यहां 'द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता' इन पांच शब्दों से आत्मा को ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जानने वाला और

'मन्ता योद्धा' इन दो शब्दों से अन्तःकरण द्वारा मानने और निश्चय करने वाला और 'कर्ता' इस शब्द से कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म करने वाला बतला कर 'विज्ञानात्मा' इससे चैतन्य स्वरूप प्रकट किया है।

आत्मा का स्वरूप जानने से पहले इन बातों का जानना आवश्यक है। आत्मा इस शरीर में शरीर से अलग चैतन्यरूप है। शरीर एक रथ है, जिस में बैठकर आत्मा इस दुनिया की सैर करता है। अथवा शरीर एक घर है, जिसमें रहकर वह भोग भोगता है, पर आत्मा इस अवस्था में अपने स्वरूप को भूला हुआ है, इसलिये न तो वह इस शरीर को रथ समझता है, न घर, किन्तु यह समझता है, कि यही मैं हूं। इस भूल के कारण शरीर पर जो विपत्ति पड़ती है, उस को अपने ही ऊपर समझकर उसके दुःख से दुःखी होता है, इसी प्रकार उसके सुख से सुखी होता है। शरीर के लिये अनुकूलता और प्रतिकूलता बदलती रहती हैं, इसलिये यह प्रिय और अप्रिय देखता रहता है, जब तक यह शरीर के साथ एक हो रहा है, तब तक उसके साथ प्रिय और अप्रिय लगे हैं। जब यह अपने आपको शरीर से अलग पहचान लेता है, तब इसकी भूल मिट जाती है, फिर उसको दुनिया के प्रिय अप्रिय नहीं छूते, यह उनकी पहुंच से ऊंचा हो जाता है।

इस शरीर में आत्मा तब तक रहता है, जब तक प्राण रहता है, प्राण इस शरीर का जीवन है, जो इसको हरा भरा रखता है। एक ही प्राण शरीर में भिन्न २ कार्य करने से पांच प्रकार का कहा जाता है। प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान।

प्राण देह के ऊपर के भाग में रहता हुआ ऊपर की इन्द्रियों (नेत्र, श्रोत्र, आदि) को जीवन देता है । अपान देह के निचले भाग में रहता है । और निचले इन्द्रियों का काम (मल मूत्र का त्याग आदि) इसके आश्रित है । समान देह के मध्य भाग में रहता है, और जो अन्न जल खाया पिया जाता है, उसके रस को सारे अंगों में बराबर बांटना इसका काम है । व्यान सारी स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म नाड़ियों में घूमता है, और सारे बल के काम इसके आश्रित हैं। उदान, जीवात्मा को इस शरीर से निकालता है, लोकान्तर में लेजाता है, वहां से वापिस लाता है, और नये शरीर में प्रवेश कराता है । सो प्राण इस देह में आत्मा के लिये यह काम करते हैं । अब प्राणों के सिवाय दूसरी वस्तु इस देह में आत्मा के पास इन्द्रियाँ हैं, जिनके द्वारा आत्मा इस देह में काम करता है और जानता है । कर्मशक्ति और ज्ञानशक्ति, यह दो ही मुख्य शक्तियां हैं, और जितने प्रकार की शक्तियां हैं, सब इन्हीं का भेद हैं । जड़ में केवल कर्मशक्ति रहती है, ज्ञानशक्ति नहीं होती, पर चेतन में कर्मशक्ति के साथ ज्ञानशक्ति भी रहती है । सो चेतन आत्मा के पास दोनों शक्तियां हैं । इन दोनों शक्तियों के बाहर प्रकाश करने के लिये उसको साधन की आवश्यकता है, वही साधन इन्द्रिय कहलाते हैं, इन्द्रियों को करण भी कहते हैं, करण अर्थात् साधन । सो कर्म करने के लिये जो इसके पास इन्द्रिय हैं, वह कर्मेन्द्रिय कहलाते हैं, और जानने के लिये जो इन्द्रिय हैं, वह ज्ञानेन्द्रिय या बुद्धीन्द्रिय कहलाते हैं । बोलना, पकड़ना, घूमना, त्यागना

और सन्तानोत्पादन यह पांच कर्म हैं, इन पांचों से शरीर की स्थिति और जगत में उसका सिलसिला स्थिर है। सो आत्मा के पास बोलने के लिये वाणी, पकड़ने के लिये हाथ, घूमने के लिये पाओं, त्याग के लिये पायु और सन्तानोत्पादन के लिये उपस्थ है। यह पांच कर्मेन्द्रिय हैं।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, यह पांच विषय हैं, इन पांचों प्रकार के विषयों को जानने के लिये आत्मा के पास पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं। शब्द सुनने के लिये श्रोत्र (कान), छूने के लिये त्वचा, रूप देखने के लिये नेत्र (आंख), रस चखने के लिये रसना और गन्ध सूंघने के लिये घ्राण है, यह पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं, यह पांचों बाहर की तरफ खुले हुए हैं, और इसलिये बाहर के विषयों को ही ग्रहण करते हैं। पर हमारे अन्दर जो सुख दुःख उत्पन्न होता है उसका ज्ञान इन बाहर के इन्द्रियों से नहीं होता, उसके लिये शरीर के अन्दर एक और इन्द्रिय है, वह मन है। सुख दुःख का जानना, सोच विचार लज्जा भय इत्यादि सब मन के काम हैं। सो यह ग्यारह इन्द्रियाँ हैं, इनमें से बाहर के इन्द्रिय बाह्येन्द्रिय वा बाह्यकरण कहलाते हैं, और अन्दर का इन्द्रय अर्थात् मन अन्तरिन्द्रिय वा अन्तःकरण कहलाता है। एक ही मन चार भिन्न २ कामों के करने से चार भिन्न २ नामों से भी बोला जाता है, मनन (ख्याल) करने से मन, निश्चय करने से बुद्धि, अभिमान करने से अहङ्कार और ज्ञान के संस्कारों को अपने अन्दर जमाय रखने से चित्त कहलाता है। इसी अभिप्राय से चार अन्तःकरण (अन्तःकरण चतुष्टय) भी कहते हैं।

'स यथा सैन्धवघनो ऽनन्तरो ऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव, एवं वा अरे ऽयमात्मा ऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमि' इति होवाच याज्ञवल्क्यः

(बृह० ४।५।१३)

जैसे एक लवण का डेला हो, न उसके कुछ अन्दर है न बाहर, किन्तु सारे का सारा वह एकरस का ही डेला है, इसी प्रकार हे मैत्रेयि! यह जो आत्मा है, न इसके कुछ अन्दर है, न बाहर है, किन्तु यह सारे का सारा एक चेतनता का ही डेला है, जो इन भूतों (प्राणधारियों) से प्रकट होकर इन्हीं में गुम हो जाता है,* मरने के पीछे कोई पता

---

* अभिप्राय यह है कि जैसे परदे से निकलकर नट अपना खेल खेल करके फिर परदे में गुम हो जाता है, इसी तरह यह आत्मा फिर अपने परदे में गुम हो जाता है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव....(गीता० २।२८)

हे अर्जुन यह जो प्राणधारी हैं, उत्पत्ति से पहले इन का कोई पता नहीं, बीच में प्रकट होते हैं (जन्म से लेकर मरने तक हमारे सामने हैं) मरने के पीछे फिर कोई पता नहीं।

"(नाम, निशान) नहीं है, हे मैत्रेयि ! मैं तुझे बतलाता हूं" यह याज्ञवल्क्य ने कहा।

वह शरीर से अलग है और शरीर उस का घर है

मघवन्मर्त्यं वा इदꣳशरीरमात्तं मृत्युना। तदस्यामृतस्याशरीरस्याऽऽत्मनोऽधिष्ठानम्।

(छान्दो० ८।१२।१।)

(प्रजापति का इन्द्र को उपदेश) मघवन् ! (इन्द्र) यह शरीर निःसन्देह मर्त्य (मरने वाला) है, मृत्यु से पकड़ा हुआ (मृत्यु के बस में) है। यह इस अमर और अशरीर आत्मा का अधिष्ठान (रहने की जगह) है।

वह प्राणों से अलग है और प्राणों से इनके काम लेता है

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ। 'याज्ञवल्क्येति' होवाच 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व' इति 'एष त आत्मा सर्वान्तरः'? कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः। यो ऽपानेनापानीति स त आत्मा सर्वान्तरः। यो व्यानेन व्यानीति स त आत्मा सर्वान्तरः।

य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तरः । एष त सर्वान्तरः' । (बृह० ३ । ४१)

* अथ इसे उषस्त चाक्रायण (चक्र के पुत्र) ने पूछा। उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म† है,

---

* जनक की सभा में जहां और बहुत से ऋषियों ने याज्ञवल्क्य पर भिन्न २ प्रश्न किये हैं, उनमें से यह उषस्त का प्रश्न है।

† यहां जीवात्मा को ब्रह्म कहा है, जैसे आत्मशब्द जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिये बोला जाता है, इसी प्रकार ब्रह्म शब्द भी उपनिषदों में दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। जैसे यहां ही ब्रह्म शब्द जीवात्मा के लिये है। क्योंकि जीवात्मा ही साक्षात् अपरोक्ष है, और जीवात्मा ही प्राण से सांस लेता है इत्यादि। इसी प्रकार बृहदारण्यक ४ । ४ । ३७ में भी ब्रह्म शब्द स्पष्ट जीवात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है, जहां परलोक में जाते हुए आत्मा के विषय में कहा है 'इदं ब्रह्मा यातीद मागच्छतीति' यह ब्रह्म आ रहा है यह आया।

साक्षात् अपरोक्ष,=सीधा प्रत्यक्ष। जिस वस्तु को नेत्र से देखते हैं, वह हमारे अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) तो है, पर साक्षात् (सीधी) अपरोक्ष नहीं, उसके लिये प्रकाश की आवश्यकता है, और जानने वाले की भी आवश्यकता है, पर आत्मा के लिये न किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता है, न जानने वाले की। वह साक्षात् (सीधा) अपरोक्ष है, अर्थात् स्वप्रकाश है॥

वह इन्द्रियों से अलग है और इन्द्रिय उसके ज्ञान के साधन हैं १३९

जो आत्मा सब के अन्दर है*, उसकी बाबत मुझे बतलाओ'?

(याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'यह तेरा आत्मा है, जो सब के अन्दर है'।

(उषस्त ने फिर पूछा) कौन सा है वह हे याज्ञवल्क्य! जो सब के अन्दर है?

(याज्ञवल्क्य ने कहा) जो प्राण से सांस लेता है, वह तेरा आत्मा सब के अन्दर है, जो अपान से सांस खींचता है, वह तेरा आत्मा सब के अन्दर है। जो व्यान से चेष्टा करता है, वह तेरा आत्मा सब के अन्दर है, जो उदान से ऊपर उठाता है वह तेरा आत्मा सब के अन्दर है। यह तेरा आत्मा है जो सब के अन्दर है।

वह इन्द्रियों से अलग है और इन्द्रिय उस के ज्ञान के साधन हैं — अथ यत्रैतदाकाश मनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः, अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्; अथ यो वेदेद मभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वाग्; अथ यो वेदेदꣳशृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् । ४ ।

---

* सर्वान्तरः, सब के अन्दर, सारे स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर के परदे उठा २ कर सब के अन्दर जाकर उस को देख सकते हैं।

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः । ५ (छान्दो० ८।१२।४-५)

जहां यह आकाश (आंख के छेद) में नेत्र जुड़ा हुआ है, वहां (नेत्र में) वह चाक्षुष पुरुष (नेत्र का मालिक, नेत्र के अन्दर बैठकर देखने वाला आत्मा) है, नेत्र देखने के लिये है* जो यह जानता है, कि मैं यह कहूं, वह आत्मा है, वाणी बोलने के लिये है, जो यह जानता है कि मैं यह सुनूं वह आत्मा है श्रोत्र सुनने के लिये है । ४ ।

जो यह जानता है, कि मैं यह सोचूं , वह आत्मा है, मन उसका दैवनेत्र (दिव्य दृष्टि †) है ।

इस जड़ देह में उसी का उजाला है, और वह आप स्वयं ज्योति है

'याज्ञवल्क्य ! किं ज्योतिरयं पुरुष' इति । 'आदित्यज्योतिः सम्राड्' इति होवाच । आदित्येनैवायं

---

* नेत्र देखने का साधन है, न कि देखने वाला, देखने वाला इस नेत्र में आत्मा है ।

† मन दैवनेत्र (दिव्य दृष्टि) इसलिये है, कि इसके द्वारा आत्मा केवल उसी वस्तु को ही नहीं देखता जो वर्तमान हो, स्थूल हो और व्यवधान से रहित हो, किन्तु उसको भी देखता है, जो हो चुकी है वा होगी, और जो सूक्ष्म है, वा दूर स्थित है, अथवा ओट में पड़ी है ।

ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति' इति । 'एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य' । २ ।

(जनक ने पूछा) याज्ञवल्क्य ! यह पुरुष किस ज्योति वाला है । उसने उत्तर दिया । सूर्य की ज्योति वाला है हे सम्राट् (राजाधिराज) । सूर्यरूपी ज्योति से ही (अच्छा स्थान देखकर) यह बैठता है, (काम के लिये) इधर उधर जाता है, (वहां) काम करता है और फिर वापिस आता है । (जनक ने कहा) हां यह ठीक है हे याज्ञवल्क्य* पर—

---

* जनक के पूछने का यह अभिप्राय है; कि यह सिर मुंह हाथ पाओं आदि वाला पुरुष ऐसा नहीं है, जिसमें कोई ज्योति (जोत, चांदना) न हो; यह एक ईंट पत्थर की तरह बेखबर नहीं, यह अपने बाहर अन्दर की खबर रखता है । इसको सारी बातों का चांदना है यह चांदना इसमें जिस ज्योति का है, वह ज्योति क्या इस देह से अलग है, वह जब इस देह में प्रवेश करता है, तो इसमें चांदना हो जाता है और जब इससे निकल जाता है तो फिर अन्धेरा हो जाता है । अथवा वह ज्योति इस शरीर की ही ज्योति है, जो इसमें प्रकट होती है और कुछ देर प्रकट रह कर फिर गुम हो जाती है । इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने यह दिखलाना है, कि वह ज्योति इस शरीर से भिन्न जो आत्मा है वह है, सो उसे इस रीति से उत्तर देते हैं, कि जिससे जनक को पहले यह निश्चय हो जाए कि इस पुरुष को अपने व्यवहार साधने के लिये एक भिन्न ज्योति की आवश्यकता अवश्य है । चाहे वह

(याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'वाणी (आवाज़) ही इसकी ज्योति होती है वाणी रूपी ज्योति से ही यह बैठता है, इधर उधर जाता है, काम करता है और लौट आता है, इस लिये हे सम्राट् जहां अपना हाथ पसारे भी नहीं दीखता, यदि वहां कोई आवाज़ उठती है तो वहां ही पहुंच जाता है*'।

(जनक ने कहा) 'हां यह ठीक है हे याज्ञवल्क्य!' पर—

'अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य ! चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किं ज्योतिरेवायं पुरुष' इति । 'आत्मैवास्यज्योतिर्भवति' इति । 'आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते, पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति' इति । ६ ।

'जब सूर्य भी अस्त है हे याज्ञवल्क्य ! चन्द्र भी अस्त है; आग भी ठण्डी है, वाणी भी शान्त है, तब यह पुरुष किस ज्योति वाला ही है ?'

(याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'तब आत्मा ही इसकी ज्योति होती है, आत्मारूपी ज्योति से ही यह बैठता है, इधर

---

* जैसे आवाज़ से व्यवहार चल जाते हैं, इसी तरह गन्ध आदि के ग्रहण करने से भी जाना आना आदि होता है, सो उनको भी ज्योति समझना चाहिये ।

उधर जाता है, काम करता है और लौट आता है, * ।

'कतम आत्मा' इति । 'योऽयंविज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' ।७। [बृह०४।३]

(जनक ने पूछा) 'वह आत्मा (इस पुरुष में) कौनसा है?

(याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'यह जो विज्ञानस्वरूप इन्द्रियों से घिरा हुआ, हृदय के अन्दर ज्योति पुरुष-है' ।७।

इस प्रकार जाग्रत में पुरुष को आत्मा की ज्योति वाला और आत्मा को स्वयं ज्योति दिखला कर फिर स्वप्न में आत्मा को स्वयं ज्योति दिखलाते हुए यह स्पष्ट कहा हैः—

अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति ।

---

* इस प्रकरण में पहले सूर्य, चन्द्र, और अग्नि इन बाहर की तीन ज्योतियों का सहारा दिखलाकर फिर वाणी आदि इन्द्रियों का सहारा दिखलाया है । पर यह स्पष्ट है, कि पुरुष न बाहर की ज्योति से और न इन्द्रियों की ज्योति से ज्योति वाला है, अब बाहर की कोई ज्योति भी प्रकाश नहीं देरही, और न ही इन्द्रिय किसी विषय का प्रकाश कर रहे हैं, तब भी यह पुरुष जड़ की तरह अन्धेरे में नहीं होता, किन्तु ज्योतिवाला होता है । अब जो इस पुरुष में जोत है, वही जागती जोत आत्मा है । और उसको अपने प्रकाश के लिये किसी बाहर के प्रकाश की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं-ज्योति, स्वयंप्रकाश है, बाहर के सारे प्रकाशों के अभाव में भी वह अपने आपको जानता है ॥

यहां यह पुरुष स्वयं ज्योति होता है* ।

जाग्रत अवस्था और उससे आत्मा का भेद } तौह प्रजापतिरुवाच 'यएषोऽक्षणि पुरुषो दृश्यते; एष आत्मा' इति ।

(छान्दो० ८ । ७ । ४)

प्रजापति ने इन दोनों (इन्द्र और विरोचन) से कहा 'यह जो आंख में पुरुष दीखता है, यह आत्मा है (अर्थात् आंख अपने देखने के काम से जिसकी हस्ती की तरफ इशारा करती है, वह आत्मा है, जो इस झरोके में बैठकर बाहर के दृश्य देख रहा है †)' ।

स्वप्नावस्था और उससे आत्मा का भेद } स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपा-

---

* देखो 'स्वप्नावस्था और उससे आत्मा का भेद' वहां यह पाठ अपने प्रकरण में सविस्तर व्याख्या किया गया है ।

† जाग्रत अवस्था में आत्मा बाह्य इन्द्रियों के द्वारा बाहर के विषयों को देखता है, बाह्य इन्द्रियों में नेत्र प्रधान है, इसलिये जाग्रत् में आत्मा की स्थिति नेत्र में दिखलाई है। इसी आशय से जाग्रत में आत्मा की स्थिति दाईं आंख में कहते हैं ।

ऊपर जो बृहदारण्यक ४ । ३ । २—७ तक के प्रमाण दिये हैं, वह भी जाग्रत अवस्था का वर्णन है ।

दाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति । अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति । (बृह० ४।३।९)

जब यह स्वप्न देखता है, उस अवस्था में यह, सारी वस्तुओं से भरी हुई इस दुनिया की मात्राओं (सूक्ष्म अंशों अर्थात् वासनाओं) को लेकर आप ही नष्ट करके आप ही बना कर अपने प्रकाश से अपनी ज्योति से स्वप्न को देखता है, यहां (इस अवस्था में) यह पुरुष स्वयंज्योति होता है*।

स्वप्न की सृष्टि और उसका बनाने वाला

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते, न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्ति, अथाऽऽनन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते, न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति,

---

* जो कुछ जाग्रत में देखा है, उसका चिन्ह लेकर स्वप्न में आप ही पहले जाग्रत् की दुनिया को अपने सामने से हटाकर और स्वप्न की दुनिया को बना कर उसे देखता है। और यह स्पष्ट है, कि यहां बाहर की ज्योति कोई नहीं है, पर देखता है, सो इस अवस्था में यह किस ज्योति से देखता है? इस प्रश्न का इसके सिवाय कोई उत्तर नहीं, कि वह अपनी ही ज्योति से देखता है, इसलिये वह स्वयंज्योति है।

अथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते। स हि कर्ता (बृह० ४ । ३ । १०)

न वहां (स्वप्नावस्था में) रथ न घोड़े न सड़कें होती हैं, पर वह रथ घोड़े और सड़कें रच लेता है, न वहां आनन्द, मोद और प्रमोद होते हैं, पर वह आनन्द मोद और प्रमोद रच लेता है, न वहां तालाब झीलें और नदियें होती हैं, पर वह तालाब, झीलें और नदियें रच लेता है।

तदेते श्लोका भवन्ति—स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति। शुक्रमादाय पुनरैति स्थानꣳ हिरण्मयः पुरुषएकहꣳसः ।११। प्राणेनरक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। स ईयते अमृतो यत्र कामꣳहिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ।१२। स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि। उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ।१३। आरामस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन' इति।

तं नायतं बोधयेदित्याहुः, दुर्भिषज्यꣳहास्मै

भवति, यमेष न प्रतिपद्यते । अथो खल्वाहुः 'जागरितदेश एवास्यैष' इति । यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति तानि सुप्त इति । अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति । १४ । (बृह० ४ । ३)

इस (विषय) में यह श्लोक हैं, शरीर से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु को नींद के द्वारा दूर हटा कर, आप न सोया हुआ वह (आत्मा) सोए हुओं (इन्द्रियों) को देखता है । (इन्द्रियों की) ज्योति को लेकर वह फिर अपनी जगह पर (जाग्रत् में) आता है, वह सुनहरी पुरुष अकेला हंस (अकेला ही जाग्रत्, स्वप्न सुषप्ति और लोक परलोक रूपी सरोवरों में घूमने वाला) । ११ । प्राण के द्वारा निचले घोंसले (स्थूल शरीर) की रक्षा करता हुआ* वह अमर (पंछी) घोंसले से बाहर दूर घूमता है, वह अमर (पंछी) जाता है; जहां उसकी मर्ज़ी है, वह सुनहरी पुरुष अकेला हंस । १२ ।

स्वप्न के स्थान में ऊंचे नीचे जाता हुआ वह देव बहुत रूप (शकलें) बनाता है (स्वीकार करता है), या स्त्रियों के साथ खुश होता हुआ, या (मित्रों के साथ) हंसता हुआ, या भय के (दृश्य) देखता हुआ । १३ ।

लोग उसके खेल की जगह (दृश्य) को देखते हैं, पर उसको (इस खेल के खेलने वाले को) कोई नहीं देखता ।

---

* स्वप्न में इन्द्रिय सोजाते हैं और प्राण जागते हैं ।

कहते हैं, कि जब वह सोया हुआ हो, तो इसको एकाएक न जगाए, क्योंकि (ऐसा करने से) जिस (इन्द्रिय) की ओर यह (आत्मा) वापिस नहीं जाता, उसका इलाज करना कठिन हो जाता है* और कहते हैं कि-'यह (स्वप्न) इसका जाग्रत् का देश ही है, क्योंकि जिन वस्तुओं को जागता हुआ देखता है, उन्हीं को सोया हुआ देखता है, यहां यह पुरुष स्वयंज्योति होता है, ।

स्वप्न की दुनिया एक भ्रान्तिमात्र है और स्वप्न में आत्मा शरीर के अन्दर ही होता है

सयत्रैतत् स्वप्न्या चराति, तेहास्यलोकाः, तदुतेव महाराजो भवति, उतेव महाब्राह्मणः; उतेवोच्चावचं निगच्छति । स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तते, एवमेवैषएतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वेशरीरे यथाकामं परिवर्तते (बृह० २।१।१८)

जब वह यहां स्वप्न की वृत्ति से विचरता है (स्वप्न देखता है) तब उसके वह लोक (स्वप्न की दुनिया) होते हैं। और वह उस समय एक महाराज सा† होता है, वा एक

---

* मिलाओ सुश्रुत ३।७।१ से

† यहां 'इव=सा' कहने का यह अभिप्राय है, कि

महाब्राह्मण सा होता है, और ऊपर जाता सा है, नीचे गिरता सा है*, और जैसे कोई महाराज अपनी प्रजाओं को साथ लेकर इच्छानुसार अपने राज्य में घूमे, इसी प्रकार यह पुरुष यहां स्वप्न में इन्द्रियों को (इन्द्रियों ने जो उसे ज्ञान दिये हैं, उनकी वासनाओं को) लेकर अपनी इच्छानुसार अपने शरीर में इधर उधर घूमता है† ।

अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति, यदेव जाग्रद्-भयं पश्यति, तदत्राविद्ययामन्यते (बृह० ४।३।२०)

अब जबकि वह इसको मानों मारते पीटते हैं, मानों वश में करते हैं, मानों हाथी उसका पीछा करता है, मानों वह गढ़े में गिरता है, (निदान) वह जागता हुआ जो भय

वस्तुतः वह महाराज नहीं बन गया, केवल वह ऐसा अनुभव करता है ।

* अपने आप में वा बाहर की दुनिया में कई प्रकार के लहाव चढ़ाव देखता है ।

† स्वप्न में आत्मा शरीर के अन्दर ही होता है, वह जब बाहर की दुनिया को देखता है; तो बाहर जाकर नहीं देखता, किन्तु अपने अन्दर ही अपनी वासनाओं के कारण वैसा देखता है । और क्योंकि शरीर के अन्दर इतने बड़े २ हाथी घोड़े और ऊंचे २ पर्वतों की जगह है नहीं, इसलिये स्वप्न में जो कुछ देखता है वह उसकी भ्रान्तिमात्र है ।

(एतदह) देखता हूं, वही यहां अविद्या (अज्ञान) से ख्याल कर लेता है* ।

स्वप्न का दिखाने वाला मन है। } अत्रैष देवः स्वप्ने महिमान मनुभवति (प्रश्न ४ । ५)

† यहां यह देव‡ (मन) स्वप्न में महिमा को अनुभव करता है§ ।

स्वप्न अदृष्ट का नहीं होता, पर कम अदृष्ट भी दीखता है } यद्दृष्टंदृष्ट मनुपश्यति, श्रुतंश्रुत मेवार्थ मनुश्रृणोति,

---

* स्वप्न में जो कुछ देखता है, वह इसका ख्याल ही होता है, इसलिये हर एक के साथ 'इव'=मानों, शब्द दिया है, और अन्त में स्पष्ट कहा है 'अविद्यया मन्यते' अज्ञान से ख्याल कर लेता है ।

† सौर्यायणी गार्ग्य ने कात्यायन से पूछा है 'कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति' (प्र० ४ । १) कौनसा यह देव (इन्द्रिय) है, जो स्वप्नों को देखता है ? तिस पर पिप्पलादने यह उत्तर दिया है ।

‡ देव से यहां अभिप्राय मन है, जिसको पूर्व (प्रश्न ४ । २ में) परदेव कहा है, और (४ । ४ में) यजमान कहा है।

§ यद्यपि अनुभव करने वाला जीवात्मा है, मन नहीं, तथापि जीवात्मा मन के साथ ही स्वप्न को अनुभव करता है, उससे अलग होकर नहीं, इस आशय से मन को अनुभव करने वाला कहा है, जैसे आंख देखती है, यह कहा जाता है।

देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च, श्रुतंचाश्रुतंचानुभूतं चाननुभूतं च, सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति
(प्रश्न ४।५)

* जो देखे हुए देखे हुए † को फिर देखता है, सुने हुए सुने हुए को फिर सुनता है, जो भिन्न २ देशों और भिन्न दिशाओं में अनुभव किया हुआ है उसको फिर २ अनुभव करता है। देखा हुआ और न देखा हुआ, सुना हुआ और न सुना हुआ, अनुभव किया हुआ और अनुभव न किया हुआ, विद्यमान और अविद्यमान, सब कुछ देखता है ‡ और

---

*इससे पूर्व यह पाठ है, जो ऊपर दिया है 'अत्रैषदेवः स्वप्ने महिमान मनुभवति'।

†देखे हुए देखे हुए, इत्यादि को दोबार पढ़ने का यह अभिप्राय है, कि माता, पिता, पुत्र, मित्र, पशु, पक्षी, बन, उपबन जो कुछ देखा हुआ है।

‡स्वप्न दृष्ट वस्तु का ही होता है, अदृष्ट का नहीं, जिस ने बनारस देखा नहीं, सुना ही है, वह स्वप्न में यदि बनारस देखे, तो वह उसके महल माड़ी गली बाजार सब कुछ वैसा ही देखेगा, जैसा कि उसने पहले अपने वा किसी दूसरे शहर का देखा हुआ है। नाम उसने बनारस सुना हुआ है, इस लिये वह नाम स्वप्न के नगर का बनारस जान लेगा, पर

सब कुछ (वीर, कायर, धनी, निर्धन इत्यादि) बन कर देखता है ।

देखेगा वही कुछ, जो कुछ उसका देखा हुआ है, इसलिये यह कहा है, कि देखे हुए को फिर देखता है ।

पर यह नियम नहीं, कि जो कुछ जिस तरह देखा है, स्वप्न में भी वैसा ही देखे । यह भी प्रायः होता है कि जाग्रत में एक पुरुष को बम्बई देखा है, और दूसरे को कलकत्ते । पर अब स्वप्न में दोनों को बनारस की एक पाठशाला में देखता है । यहां वह दोनों पुरुष और बनारस की पाठशाला उसके देखे हुए हैं, इस अंश में तो स्वप्न देखी हुई वस्तु का है । पर जाग्रत में एक को बम्बई और दूसरे को कलकत्ते देखा है, बनारस में नहीं, और अब उनको वहां नहीं देखता है, जहां पहले देखा था, बल्कि जहां उनको नहीं देखा था वहां देखता है, सो यह स्वप्न में अदृष्ट अंश है । सो इस तरह पर इतना इधर उधर का मेल हो जाता है, जिसका कुछ ठिकाना नहीं । राजा को रंक, रंक को राजा, बुद्धिमान को पागल, पागल को बुद्धिमान् इत्यादि रूप से, जाग्रत से अनेक प्रकार का भेद देखता है । किंच-स्वप्न में पहले पहल देखने में एक मनुष्य प्रतीत हुआ है । थोड़ी देर में वही भेड़िया बन जाता है, यह सब बातें जो स्वप्न में देखी जाती हैं, यह जाग्रत में नहीं होतीं । इसलिये कहा है कि देखे हुए और न देखे हुए को देखता है इत्यादि । पर यह निःसन्देह है, कि अदृष्ट अंश सम्बन्ध (मेल) में होता है, सर्वथा अदृष्ट का स्वप्न कभी नहीं होता । वेदान्तियों से जो प्रायः यह दृष्टान्त दिया गया

किसी विद्यमान अङ्ग के नाश होजाने पर भी स्वप्न में उस का कार्य दीखता है।

य एष स्वप्ने महीयमान श्चरत्येष आत्मा । तद्यद्यपीदꣳ शरीरमन्धंभवत्यनन्धः सभवति, यदि स्राम मस्रामो, नैवैषोऽस्यदोषेणदुष्यति ।१। न वधेनास्य हन्यते नास्यस्राम्येणस्रामः । २ ।

(छान्दो० ८ । १०)

है कि अपना सिर कटा हुआ आप ही देखता है । इसमें भी अदृष्ट अंश केवल सम्बन्ध का ही है। यद्यपि अपना सिर कटा हुआ नहीं देखा, पर दूसरे का तो देखा ही है अथवा कोई और अंग कटा हुआ देखा है, स्वप्न में उसका सम्बन्ध दूसरी जगह कर लेता है। पर ऐसा स्वप्न सचमुच देखा जाता है, इसमें हमें कोई प्रमाण नहीं मिला, जिससे पूछा कि तुमने कभी यह स्वप्न देखा, उसी ने इन्कार किया। किसी पुरुष को यह स्वप्न तो आसकता है, कि वह मरने लगा है; और उस के हाथ की नाड़ी नहीं चलती है । पर यदि उसके सिर को काटने लगें, तो काटने से पहले ही जाग उठता है । कोई भी प्रबल भय जो मनुष्य का पीछा कर रहा है, उसमें या तो पुरुष जल्दी जाग उठता है, या वह भय ही बदल जाता है॥

'अदृष्ट=किसी दूसरे जन्म का देखा हुआ क्योंकि अत्यन्त अदृष्ट में वासना नहीं होती (शंकराचार्य और राघवेन्द्रयति) नेत्रों के प्रयोग के बिना देखा हुआ जैसा कि स्वप्न होता है (शंकरानन्द) ।

यह जो स्वप्न में महिमा अनुभव करता हुआ विचरता है, यह आत्मा है। सो यह (स्थूल) शरीर यदि अन्धा भी हो जाय तो वह (स्वप्नद्रष्टा) अन्धा नहीं होता, यदि यह काना हो, तो वह काना नहीं होता, न इसके दोष से वह दूषित होता है, न इसके वध से वह मरता है, न इसके कानापन से वह काना होता है*।

स्वप्न कभी २ किसी बात का सूचक भी होता है } यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ।

(छान्दो० ५।२।९)

जब पुरुष काम्य (जो किसी लौकिक कामना से किये जाते हैं) कर्मों में स्वप्न के अन्दर स्त्री को देखता है, तब वह ऐसे स्वप्न के देखने पर उस (कर्म) में सफलता जाने।

---

* स्वप्न उन वासनाओं से होता है जो किसी वस्तु के अनुभव करते समय चित्त पर पड़ती हैं, अत एव जो वस्तु अनुभव नहीं की; उसका स्वप्न नहीं होता, क्योंकि चित्त में उसकी कोई वासना नहीं है, इसलिये जो जन्म से अन्ध है, वह स्वप्न में भी किसी वस्तु को देखता नहीं बल्कि छूता ही है। पर जो कुछ काल नेत्रों वाला रहकर फिर अन्धा होगया है, वह अन्धा होकर भी स्वप्न में उन वस्तुओं को देखता है जिनको पहले देखा हुआ है, क्योंकि उनकी वासनाएं चित्त में पड़ चुकी हैं और स्वप्न के लिए केवल वासना की ही ज़रूरत है, असली नेत्र की नहीं।

सुषुप्ति अवस्था और उस से आत्मा का भेद। } तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियते एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति, यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति (बृह० ४। ३। १९)

जैसे एक बाज़ वा कोई और (तेज) पंछी इस आकाश में इधर उधर उड़ करके थका हुआ दोनों पंखों को लपेट कर घोंसले की ओर मुड़ता है, इस प्रकार यह (पुरुष) इस अवस्था की ओर दौड़ता है, जहां गहरा सोया हुवा न कोई कामना चाहता है, न कोई स्वप्न देखता है।

सुषुप्ति थकान से होती है और उसमें मन भी आराम करता है पर प्राण जागता है } स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु सोम्यैतन्मनो दिशं दिशं पतित्वा ऽन्यत्रायतन मलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति (छान्दो० ६।८।२)

जैसे शिकारी के तागे से दृढ़ बन्धा हुआ कोई पक्षी

(बाज़ आदि) दिशा दिशा में उड़कर (फड़ फड़ा कर) और कहीं आश्रय न पाकर उसी जगह का आश्रय लेता है, जहां वह बन्धा हुआ है, ठीक इसी प्रकार हे सोम्य ! यह मन (जाग्रत और स्वप्न में) दिशा दिशा में घूम कर और कहीं आश्रय न पाकर प्राण का ही सहारा लेता है, क्योंकि यह मन हे सोम्य ! प्राण से बन्धा हुआ है, (प्राण के सहारे है)

इस अवस्था में आत्मा अन्दर बाहर की खबर से बेपरवाह और भय शोक कामना की पहुंच से ऊपर होता है ।

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयꣳ रूपम् । तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम् । एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम् । तद्वा अस्यैतदाप्तकाम मात्मकाम मकामꣳ रूपꣳ शोकान्तरम् ।

(बृह० ४ । ३ । २१)

यह इसका वह रूप है, जहां कोई इच्छा नहीं, पाप नहीं, भय नहीं, जैसा कि कोई पुरुष अपनी प्यारी स्त्री से आलिङ्गन किया हुआ (कण्ठ लगाया हुआ) न बाहर कुछ जानता है, न अन्दर, ठीक ऐसे ही यह पुरुष प्राज्ञ आत्मा से आलिङ्गन किया हुआ न बाहर कुछ जानता है, न अन्दर । निःसन्देह इसका यह वह रूप है, जहां सारी कामनाएं पूरी

है, जहां (केवल) अपने आप की कामना है, जहां कोई कामना शेष नहीं, जो हर एक शोक से रहित है।

तद् यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येषआत्मेति (छान्दो० ८।११।१)

जब यह सोया हुआ आराम करता हुआ सम्प्रसन्न (हिल चल से रहित, पूरे आराम में) हुआ स्वप्न को नहीं देखता है यह आत्मा* है।

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति (प्रश्न ४।३)

प्राणों की अग्नियें ही इस पुर (देह) में जागती हैं।

इस अवस्था में न बाहर के सम्बन्ध साथ रहते हैं, न बाहर की भलाई बुराई साथ रहती है

अत्र पिता ऽपिता भवति, माता ऽमाता, लोका ऽलोकाः, देवा अदेवा, वेदा अवेदाः। अत्र स्तेनो ऽस्तेनो भवति भ्रूणहा ऽभ्रूणहा चाण्डालो ऽचाण्डालः, पौल्कसो ऽपौल्कसः, श्रमणो ऽश्रमणः, तापसो ऽतापसः, अनन्वागतं पुण्येन, अनन्वागतं पापेन, तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति।

(बृह० ४।३।२२)

---

*यह सुषुप्तावस्था में आत्मा का वर्णन है।

*यहां पिता पिता नहीं होता, माता माता नहीं होती, लोक (दुनिया) लोक नहीं होते, देवता देवता नहीं होते, वेद वेद नहीं होते। यहां चोर चोर नहीं होता, हत्यारा हत्यारा नहीं होता। चण्डाल चण्डाल नहीं होता, पौल्कस पौल्कस† नहीं होता भिक्षु (सन्यासी) भिक्षु नहीं होता, तपस्वी (वानप्रस्थ) तपस्वी‡ नहीं होता है। यहां न भलाई उसके पीछे आई है न बुराई, क्योंकि वह उस समय हृदय के सारे शोकों से पार तरता हुआ होता है।

नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्य यमहमस्मीति, नो एवेमानि भूतानि।

(छान्दो० ८। ११। २)

यह (सुषुप्तावस्था का आत्मा) अपने आपको भी इस प्रकार ठीक २ नहीं जानता है, कि यह मैं हूं और न ही इन भूतों को (जानता है, जैसा कि जाग्रत और स्वप्न में जानता है)

---

*इस अवस्था में यह आत्मा सारे सम्बन्धों से अतीत होता है। जाग्रत में जो किसी का पिता है, वह अब इस अवस्था में अपने पुत्र के प्रति पिता नहीं है, इसी प्रकार पुत्र भी पुत्र नहीं है, जो जाग्रत में दुनिया थी, वह अब हमारे लिये दुनिया नहीं है।

† चण्डाल=ब्राह्मणी माता से शूद्र पिता का पुत्र। पौल्कस=क्षत्रिय माता से शूद्र पिता का पुत्र। इन दोनों शब्दों से जाति सम्बन्ध का अभाव दिखलाया है।

‡ भिक्षु और तपस्वी, इन दोनों से आश्रम सम्बन्ध से अतीत दिखलाया है।

सुषुप्ति में आत्मा बेखबर इसलिये है, कि वहां किसी दूसरी वस्तु की पहुंच नहीं, पर वह अपने आप में चैतन्य रूप उस समय भी है।

यद्वै तन्न पश्यति, पश्यन्वै तन्न पश्यति, न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद्, नतु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्।

(बृह० ४।३।२३)

वह जो वहां (सुषुप्ति में) नहीं देखता है, सो देखता हुआ ही वह नहीं देखता है, क्योंकि द्रष्टा से दृष्टि का लोप नहीं होता है, क्योंकि वह अविनाशी है। किन्तु वहां उससे अलग कोई दूसरी वस्तु है नहीं, जिसको वह देखे*।

---

* जिस तरह अग्नि का जलना तब तक बना रहेगा, जब तक अग्नि विद्यमान है, इसी प्रकार यह आत्मा द्रष्टा है, जब तक यह वर्तमान है, तब तक इसकी दृष्टि इसके साथ है। आत्मा अविनाशी है, इसलिये इसकी दृष्टि भी अविनाशिनी है। पर यह अविनाशिनी दृष्टि आंख नहीं, उसका अपना रूप ही है, वह आत्मा से जुदा नहीं हो सकती। फिर सुषुप्ति में देखता क्यों नहीं? इसलिये कि वहां कोई दूसरी वस्तु नहीं, जिसको वह देखे। स्वप्न में जब दूसरी वस्तु वासना विद्यमान रहती है, तो वह आंख के बन्द रहने पर भी देखता है, पर यहां वह भी साथ नहीं, केवल आत्मा ही आत्मा है, तब वह किसे देखे।

यद्वै तन्न जिघ्रति, जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति, न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद्, न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं, यज्जिघ्रेत् । २४ ।

यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते, नहि रसयितू रसयितेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद्, न तु तद्द्वितीय मास्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यद्रसयेत् । २५ ।

यद्वै तन्नवदति, वदन्वै तन्न वदति, नहि वक्तु र्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद्, न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यद् वदेत् । २६ । यद्वै तन्न शृणोति, शृण्वन्वै तन्न शृणोति, न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद्, न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तंयच्छृणुयात् । २७ । यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते, न हि मन्तुर्मते-

र्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद्, न तु तद्द्वितीय मस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यन्मन्वीत। २८। यद्वै तन्न स्पृशति, स्पृशन्वै तन्न स्पृशति, नहि स्प्रष्टुः स्पृष्टे र्विपरिलोपोर्विद्यतेऽविनाशित्वाद् , न तु तद्द्वितीय मस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् स्पृशेत् । २९। यद्वै तन्न विजानाति, विजानन्वै तन्न विजानाति, न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद् नतु तद्द्वितीय मस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यद्विजानीयात्। ३०। (बृह० ४ । ३)

वह जो वहां नहीं सूंघता है, सो सूंघता हुआ ही वह नहीं सूंघता है, क्योंकि सूंघने वाले से सूंघना लुप्त नहीं होता है, क्योंकि वह अविनाशी है। किन्तु वहां उससे अलग कोई दूसरी वस्तु है नहीं; जिसको वह सूंघे । २४। वह जो वहां रस नहीं लेता है, सो रस लेता हुआ ही वह रस नहीं लेता है, क्योंकि रस जानने वाले से रस का जानना लुप्त नहीं होता है, क्योंकि वह अविनाशी है, किन्तु वहां उससे अलग कोई दूसरी वस्तु है नहीं; जिसका वह रस लेवे । २५। वह जो वहां नहीं बोलता है, सो बोलता हुआ ही नहीं बोलता है,

क्योंकि बोलने वाले से बोलना लुप्त नहीं होता है, किन्तु वहां उससे अलग कोई दूसरी वस्तु है नहीं जिसको वह बोले (बोलकर बतलाए)। २६। वह जो वहां नहीं सुनता है, सो सुनता हुआ ही वह नहीं सुनता है, क्योंकि सुनने वाले से सुनना लुप्त नहीं होता है, किन्तु वहां उससे अलग कुछ और है नहीं, जिसको वह सुने। २७। वह जो वहां नहीं सोचता है, सो सोचता हुआ ही वह नहीं सोचता है, क्योंकि सोचने वाले से सोचना लुप्त नहीं होता है, किन्तु वहां उससे अलग कुछ और है नहीं, जिसको वह सोचे। २८। और वह जो वहां नहीं छूता है, सो वह छूता हुआ ही नहीं छूता है, क्योंकि छूने वाले से छूना लुप्त नहीं होता है, क्योंकि वह अविनाशी है। किन्तु वहां उससे अलग कुछ और है नहीं, जिसको वह छुए। २९। और वह जो वहां नहीं जानता है, सो जानता हुआ ही वह नहीं जानता है, क्योंकि ज्ञाता से ज्ञान लुप्त नहीं होता है. किन्तु वहां उससे अलग कुछ और है नहीं, जिसको वह जाने*। ३०।

---

* जाग्रत और स्वप्न में आत्मा देखता सुनता है, इस लिए इन अवस्थाओं में आत्मा के ज्योतिरूप होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। पर यदि आत्मा ज्योतिस्वभाव है, तो वह स्वभाव उसका सुषुप्ति में क्यों नहीं रहता? इसका उत्तर इतने बड़े विस्तार के साथ दिया है। कि जिस तरह सूर्य के प्रकाश के सामने जो वस्तु होती है, उसको वह प्रकाशित करता है, पर जहां कोई दूसरी वस्तु नहीं, वहां प्रकाश स्वयं विद्यमान होता हुआ भी किस को प्रकाशित करे, इसी

यत्र वा अन्यदिव स्यात् तत्रान्योऽन्यत् पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्यो ऽन्यद्रसयेदन्यो ऽन्यद्वदेदन्यो ऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्यो ऽन्यत् स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात् ।३१। सलिल एको द्रष्टा ऽद्वैतो भवति । ३२ ।

(बृह० ४ । ३)

जहां दूसरा सा* हो, वहां दूसरा दूसरे को देखे, दूसरा दूसरे को सूंघे, दूसरा दूसरे का रस लेवे, दूसरा दूसरे

प्रकार सुषुप्ति में द्रष्टा के सामने कोई दृश्य नहीं, जिस को कि वह देखे । देखना सुनना इत्यादि धर्म कोई अलग २ नहीं, किन्तु यह एक ही धर्म अर्थात् जानने के विशेष हैं । आंख से जानने का नाम देखना है, और कान से जानने का नाम सुनना । आंख उस के सामने रूप को ला रखती है और कान शब्द को । सुषुप्ति में यह इन्द्रिय थक कर आराम करते हैं, तब उसके सामने कोई दृश्य नहीं रहता, जिस पर उसका प्रकाश पड़े । पर प्रकाश स्वरूप (ज्ञान स्वरूप) वह उस समय भी है, अगर कोई वस्तु उसके सामने होती, तो उसको वह प्रकाशित करता, जब कोई वस्तु है नहीं, तो किसको प्रकाशित करे ।

* स्वप्न में यद्यपि दूसरी वस्तु नहीं होती, तथापि ख्याली वस्तु बनती जाती है, इसलिये 'इव'=सा' कहा है ।

को कहे, दूसरा दूसरे को सुने, दूसरा दूसरे को सोचे, दूसरा दूसरे को छुए, दूसरा दूसरे को जाने, । ३१ । यहां द्रष्टा एक समुद्र* है बिना द्वैत के है । ३२ ।

सुषुप्ति में आत्मा हृदय की नाड़ियों में से होता हुआ पुरीतत् नाड़ी के द्वारा हृदयाकाश में होता है ।

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येति । असौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः । १ । तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं च, एवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुंच । अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता, आभ्योनाड़ीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः । २ । तद् यत्रैतत् सुप्तः समस्तः

---

* गंगा आदि नदियां समुद्र में जाकर अपने विशेषरूप को त्याग कर एक समुद्र रूप हो जाती हैं, इसी प्रकार देखने सुनने आदि की सारी शक्तियां सुषुप्ति में अपने विशेषरूप को त्याग कर एक चैतन्य रूप में हो जाती हैं ।

स्वप्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति। तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति, तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति। ३।

(छान्दो० ८।६)

अब यह जो हृदय की नाड़ियें हैं, वह भूरे सूक्ष्म (रस) की भरी हुई हैं, तथा श्वेत नीले पीले और लाल (रस की भरी हुई हैं)। और ऐसे ही वह सूर्य भूरा है, श्वेत है, नीला है, पीला और लाल है। १।

जैसे एक लम्बी चौड़ी सड़क दो गाओं को जाती है, इधर इस (गाओं) को और उधर उस (गाओं) को, इसी प्रकार यह सूर्य की किरणें दोनों लोकों को जाती हैं, इधर इस लोक (लोक=शरीर) को, और उधर उस लोक (सूर्य) को। वह उस सूर्य से चलती हैं, और इन नाड़ियों में आकर प्रवेश करती हैं, इन नाड़ियों से चलती हैं और सूर्य में जाकर प्रवेश करती हैं। २।

सो जब यह पुरुष सोया हुआ आराम करता हुआ (बाह्य विषयों के ग्रहण से निवृत्त हुआ) और पूरा निर्मल हुआ (अपने स्वरूप से जो कुछ बाहर है उससे बेखबर हुआ) स्वप्न को नहीं देखता है (सुषुप्ति में होता है) तब वह इन नाड़ियों में प्रविष्ट हुआ होता है, तब उसे कोई बुराई नहीं छू सकती, क्योंकि वह उस समय (सूर्य के) तेज से (जो नाड़ियों में पित्त के रूप में है) व्याप्त होता है। ३।

अथ यदा सुषुप्तो भवति, यदा न कस्यचन वेद, हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते (बृह० २।१।१९)

अब जब कि वह गहरी नींद में सोया हुआ होता है, जब इसे किसी की खबर नहीं होती, उस समय वह उन हिता नामी नाड़ियें जो हृदय से सारे शरीर में पहुंचती हैं, उन (नाड़ियों) के द्वारा चलकर पुरीतत् नाड़ी में सोता है।

यत्रैष एतत् सुप्तो ऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषः। तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते।
(बृह० २।१।१७)

जब कि यह पुरुष, जो यह विज्ञानस्वभाव है, गहरा सोया हुआ था, तब वह इन इन्द्रियों के विज्ञान के द्वारा विज्ञान को लेकर जो यह हृदय के अन्दर आकाश है वहां आराम करता है।

इस अवस्था में वह अपने स्वरूप में अवस्थित हुआ ब्रह्म में स्थित होता है। } यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति, स्वमपीतो भवति,

तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति

(छान्दो० ६।८।१)

जब यह पुरुष सो जाता है, तब हे सोम्य! वह सत् (ब्रह्म) के साथ मिल जाता है, वह अपने आप में लीन होता है, इसलिये इसे स्वपिति कहते हैं, क्योंकि वह अपने आप (स्व) में लीन (अपीत) होता* है।

स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति।

(प्रश्न० ४।४)

वह (उदान) इस यजमान को प्रति दिन (सुषुप्ति में) ब्रह्म के पास पहुंचाता है।

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते (प्रश्न ४।९)

यह जो देखने, छूने, सुनने, सूंघने, रसलेने, मानने, जानने और करने वाला चैतन्यरूप पुरुष है, यह (सुषुप्ति में) उस अविनाशी परमात्मा में आश्रय लेता है।

---

*'स्वपिति' (वह सोता है,) यह शब्द 'स्व' (अपने आप में) और 'अपीत' (लीन होता है) से निकला है, क्योंकि आत्मा उस समय अपने स्वरूप में होता है, न कि बाहर की दुनिया में

इसीलिये सुषुप्ति का नाम ब्रह्मलोक है। } एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्यः (बृह० ४।३।३२)

यह ब्रह्मलोक है हे सम्राट्! यह याज्ञवल्क्य ने उस (जनक) को शिक्षा दी।

वहां वह ब्रह्म को पहुंचकर भी जानते नहीं कि हम ब्रह्म में पहुंचे हुए हैं। } तद् यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुः, एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः (छान्दो० ८।३।२)

जैसा कि (भूमि में) दबे हुए सोने के निधि (खजाने) के ऊपर २ घूमते हुए भी वह लोग जो क्षेत्रज्ञ नहीं हैं, वह (उस निधि को) नहीं पासकते, इसी प्रकार यह सारी प्रजाएं (जन्तुमात्र) दिन प्रतिदिन ब्रह्मलोक में जाती हैं (सुषुप्ति में हृदयस्थ ब्रह्म में लीन होती हैं) पर वह उसे नहीं ढूंढ पातीं, क्योंकि वह झूठ से चलाई आरही हैं (अर्थात् झूठ ने उनको अपने स्वरूप से भुलाया हुआ है)।

इमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति संपद्यामह इति (छान्दो० ६।९।२)

(सुषुप्ति में) यह सारी प्रजाएं (जीव) सत् (ब्रह्म) में लीन होकर नहीं जानतीं, कि हम सत् में लीन हुई हैं ।

न जानते हुए भी वह यहां आनन्द भोगते हैं } स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नी मानन्दस्य गत्वा शयीत, एवमेवैष एतच्छेते ।

(बृह० २ । १ । १९)

जैसे कोई कुमार वा महाराज वा महाब्राह्मण आनन्द की चोटी पर पहुंचकर सोवे,* इसी प्रकार यह यहां (सुषुप्ति में) सोता है ।

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति, अत्रैष देवः स्वप्नान् न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत् सुखं भवति (प्रश्न० ४ । ६)

और जब वह (मन) तेज (उदान) से दबा लिया जाता है,† तब यह देव (मन) स्वप्न नहीं देखता है, उस समय इस शरीर में यह सुख होता है ।

---

* छोटा बाल, महाराज और महाब्राह्मण अपनी स्वस्थ अवस्था में बड़े बेपरवाह और बड़े प्रसन्न होते हैं, अतएव इनका दृष्टान्त लिया है, सुषुप्ति में हरएक पुरुष इसी तरह बेपरवाह और आनन्द की चोटी पर पहुंचा हुआ होता है ।

† गाढ़ निद्रा की अवस्था में; सुषुप्ति में ।

सुषुप्ति से वह ब्रह्म से आकर भी नहीं जानते कि हम ब्रह्मसे आए हैं } इमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति (छान्दो० ६ । १० । २)

यह सारी प्रजाएं सत् (ब्रह्म) से आकर भी नहीं जानतीं कि हम सत् से आई हैं ।

इस अवस्था में सुषुप्त पुरुष के लिये सारा बाह्याध्यात्म जगत् ब्रह्म में लीन है । } स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते, एवं हवै तत्सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ।७। पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्राचाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चा दातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहंकर्तव्यं च चित्तं च चेत-

यितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च । ८ । एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते । ९ । (प्रश्न० ४)

जैसे हे सोम्य ! पंछी (उड़ फिर कर) फिर अपने रहने के वृक्ष का आश्रय लेते हैं, इस प्रकार यह सब कुछ (इस अवस्था में) परमात्मा का आश्रय लेता है । ७ । पृथिवी और पृथिवी की मात्रा (सूक्ष्म तन्मात्रा) जल और जल की मात्रा, तेज और तेज की मात्रा, वायु और वायु की मात्रा, आकाश और आकाश की मात्रा, नेत्र और जो कुछ देखा जाता है* श्रोत्र और जो कुछ सुना जाता है, घ्राण और जो कुछ सूंघा जाता है, रसना और जो कुछ रस लिया जाता है, त्वचा और जो कुछ छुआ जाता है, वाणी और जो कुछ बोला जाता है; हाथ और जो कुछ पकड़ा जाता है, उपस्थ और जो कुछ भोगा जाता है, पायु (गुदा) और जो कुछ (मल) त्यागा जाता है, पाओं और जो कुछ घूमा जाता है, मन और जो कुछ माना जाता है, बुद्धि और जो कुछ जाना जाता है, अहंकार और जो मैं किया जाता है (अहंकार का विषय)

---

* अक्षरार्थ—देखने योग्य (विषय) देखने की वस्तु, इत्यादि ।

चित्त और जो कुछ याद किया जाता है, तेज और जो कुछ प्रकाश किया जाता है, प्राण और जो कुछ थामा जाता है (सहारा दिया जाता है) (यह सारा उस अवस्था में परमात्मा में स्थिति पाता है)* । ८ । क्योंकि यह जो देखने, छूने, सुनने, सूंघने, रसलेने मानने, जानने, और करने वाला विज्ञान स्वभाव पुरुष है, यह (उस समय) उस अविनाशी परमात्मा में आश्रय लेता है † । ९ ।

जागने पर उसके लिये फिर सब कुछ उसी आत्मा से निकल आता है } यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादा-

---

* यहां क्रम से पांच महाभूत और उनकी सूक्ष्म तन्मात्रा; नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना, और त्वचा यह पांचों ज्ञानेन्द्रिय और इनके विषय । वाणी, हाथ, उपस्थ, पायु और पाओं, यह पांचों कर्मेन्द्रिय और उनके विषय । मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त यह चार अन्तःकरण और उनका विषय । शरीर के अन्दर का तेज और उसका विषय । और प्राण और उसका विषय, वर्णन किया है । यही बाह्य और अध्यात्म जगत् है । यह सारा उस परम आत्मा में आश्रय लेता है, इसमें हेतु आगे दिया है ।

† अर्थात् पुरुष विज्ञान स्वभाव है, उसकी जो कर्म और ज्ञान की शक्तियां हैं, उनसे वह बाहर की दुनिया में काम करता है, और बाहर के दृश्य देखता है, जब वह सुषुप्ति में अपनी सारी शक्तियों को समेट कर ब्रह्म में लीन होता है, तो मानो यह सब कुछ उसका ब्रह्म में लीन हो जाता है ।

त्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति (बृह० २। १। २१)

जैसे अग्नि से छोटी २ चिंगाड़ियां इधर उधर उठती हैं, इसी प्रकार सारे इन्द्रिय, सारे लोक, सारे देवता, सारे प्राणधारी इस आत्मा से चारों ओर निकल आते हैं।

इन अवस्थाओं में आत्मा का जाना और आना एक क्रम से होता है, और वह स्वयं इन अवस्थाओं से अलग इनका द्रष्टा है।

'स वा एष एतस्मिन् संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव। स यत् तत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इति (बृह० ४। ३। १५)

(याज्ञवल्क्य का जनक के प्रति उपदेश) वह (पुरुष) इस सुषुप्ति (गहरी नींद) में रमणकर और विचरकर और भलाई बुराई को केवल देखकर ही जिस स्थान से गया था, फिर उसी स्थान में उलटा वापिस आता है स्वप्न के लिये। और वह वहां जो कुछ देखता है, वह उसके पीछे नहीं आता है, क्योंकि यह पुरुष असंग * है।

---

* अर्थात् आत्मा एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाता है, पर उस अवस्था के भले बुरे सारे दृश्य वहीं के वहीं रह जाते हैं, उसके साथ नहीं जाते।

'स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने रत्वाचरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव । स यत्तत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगो ह्ययं पुरुष इति
(बृह० ४ । ३ । १६)

फिर यह पुरुष इस स्वप्न में रमणकर और विचरकर और भलाई बुराई को केवल देखकर, जिस स्थान से गया था, फिर उसी स्थान में उलटा वापिस आता है जागने की अवस्था के लिये । वह वहां जो कुछ देखता है वह उसके पीछे नहीं आता, क्योंकि यह पुरुष असंग है ।

स वा एष एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव (बृह० ४।३।१७)

यह इस जाग्रत् की अवस्था में रमण कर और विचर कर और भलाई बुराई को केवल देखकर, जिस स्थान से गया था, उसी स्थान में फिर वापिस आता है स्वप्न की अवस्था के लिये ।

इन अवस्थाओं से आत्मा के अलग होने में दृष्टान्त

तद्यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं चापरञ्च, एवमेवा-

यं पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचराति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च (बृह० ४।३।१८)

जैसे एक बड़ा मच्छ (नदी के) पहले और दूसरे दोनों किनारों की ओर घूमता है, इसी प्रकार यह पुरुष दोनों अवस्थाओं की ओर घूमता है, स्वप्न की अवस्था की ओर और जाग्रत् की अवस्था की ओर*।

याज्ञवल्क्य और मैत्रयी का संवाद

याज्ञवल्क्य और मैत्रयी का संवाद आत्म-विषय का एक बड़ा सुन्दर और स्पष्ट वर्णन है, यहां हम इस मनोहर कथा को पूरा उद्धृत करते हैं इसी से आत्मा के विषय में जो कुछ कहना शेष है; वह आजायगा।

---

* जैसे एक बड़ी मछली दोनों किनारों की ओर फिरती हुई उनसे अलग है, और असंग है। इसी प्रकार आत्मा इन अवस्थाओं में घूमता हुआ इनसे अलग है और असंग है। यहां स्वप्न और जाग्रत् उपलक्षण हैं, अर्थात् इसी प्रकार स्वप्न और सुषुप्ति में घूमता हुआ आत्मा इन दोनों से अलग है। जाग्रत् से स्वप्न में ही जाता है और स्वप्न से ही जाग्रत् में आता है, इसी प्रकार स्वप्न से ही सुषुप्ति में जाता है, और सुषुप्ति से स्वप्न में ही आता है। इसलिये जाग्रत् और स्वप्न यह दो किनारे हैं, और फिर स्वप्न और सुषुप्ति यह दो किनारे हैं। इसी अभिप्राय से दृष्टान्त दो किनारों वाला चुना है।

याज्ञवल्क्य का अपने संन्यास लेनेकी इच्छा को मैत्रीय पर प्रकट करना।

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च। तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायनी। अथ ह याज्ञवल्क्यो ऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन् ।१। मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः 'प्रव्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि' हन्त ते ऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणि, इति । २ ।

याज्ञवल्क्य की दो पत्नियें थीं, मैत्रेयी और कात्यायनी*। उनमें से मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी, पर कात्यायनी केवल स्त्रियों की ही दानाई† रखती थी। अब याज्ञवल्क्य जब (जीवन की) दूसरी अवस्था को आरम्भ करने के लिये तय्यार हुआ (जब उसने गृहस्थ को छोड़कर संन्यास लेना चाहा) ।१। तो उसने कहा प्रिये! मैत्रेयि! मैं इस स्थान (गृहाश्रम) से चला जाने (संन्यास लेने) को तय्यार हूं, अहो तेरा अब इस

---

* मैत्रेयी मित्रयु की कन्या। कात्यायनी,=कत गोत्र में उत्पन्न हुई।

† गृहाश्रम की आवश्यकताओं को संभालने, संवारने और इस आश्रम के धार्मिक और लौकिक कर्तव्यों के पालन में ही कुशल थी, मैत्रेयी की तरह ब्रह्मवादिनी न थी।

कात्यायनी से भेद कर जाऊँ (अर्थात् धन तुम दोनों को बांट देजाऊं) । २ ।

मैत्रेयी की निःस्पृहता और अमृतत्व के लिये पति से प्रश्न । } सा होवाच मैत्रेयी—'यन्नु म इयं भगोः ! सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्, स्यां न्वहं तेनामृताऽऽहो ३नेति । नेतिहोवाच याज्ञवल्क्यो, यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव तेजीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाशा ऽस्ति वित्तेन' इति । ३ । सा होवाच मैत्रेयी 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां, यदेव भगवान् वेद, तदेव मे ब्रूहि' इति । ४ ।

मैत्रेयी ने कहा 'हे भगवन् ! यदि यह सारी पृथिवी धन से भरी हुई (मेरे पास) हो, तो क्या मैं उससे अमर हो जाऊंगी वा नहीं ।

याज्ञवल्क्य ने कहा 'नहीं, (प्रिये ! नहीं) जैसे अमीर लोगों का जीवन होता है, वैसे ही तेरा जीवन होगा, परन्तु धन से अमृतत्व (अमर होने) की कोई आशा नहीं है । ३ ।

मैत्रेयी ने कहा तो ' जिससे मैं अमृत नहीं हूंगी, उससे मैं क्या करूंगी, केवल वह (वस्तु) जो आप जानते हैं, वही मुझे बतलाइये । ४ ।

याज्ञवल्क्य का मैत्रेयी के लिये आदर और उस की बात का स्वीकार । } स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृधद्-हन्त तर्हि भवत्येतद् व्याख्यास्यामि ते, व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्व' इति

याज्ञवल्क्य ने कहा 'आप हमारी (पहले ही) प्यारी हैं और (अब इस बात के पूछने से) प्रीति को (और) बढ़ाया है* अहो भवति† मैं तेरे लिये इस पर व्याख्यान दूंगा, तुम उस पर पूरा २ ध्यान दो । ५ ।

और सब कुछ आत्मा के लिये प्यारा है पर आत्मा साक्षात् प्यारा है । } स होवाच 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भव-

---

* अर्थात् तूने वह बात पूछी है, जो मुझे बहुत प्यारी है, क्योंकि इसमें तुम्हारा कल्याण है ।

† भवति स्त्री के लिये यह आदर का संबोधन है अक्षरार्थ है आप ! ऐसा हो सकता है, पर भाषा में ऐसा बोला नहीं जाता, इसलिये वही शब्द रहने दिया है । यह संवाद प्रकट करता है, कि उस समय भारतवर्ष में स्त्रियों के लिये आदर मान और प्रतिष्ठा थी, और उनको ब्रह्मविद्या तक का अधिकार था ।

स्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति। न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः

प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ॥

उसने कहा 'हे मैत्रेयी ! पति, पति की कामना के लिये प्यारा नहीं होता है, किन्तु पति आत्मा की कामना के लिये प्यारा होता है । इसी प्रकार हे मैत्रेयि ! पत्नी पत्नी की कामना के लिये प्यारी नहीं होती है, किन्तु पत्नी आत्मा की कामना के लिये प्यारी होती है । हे मैत्रेयि ! पुत्र पुत्रों की कामना के लिये प्यारे नहीं होते हैं, किन्तु पुत्र आत्मा की कामना के लिये प्यारे होते हैं, हे मैत्रेयि धन धन की कामना के लिये प्यारा नहीं होता है, किन्तु धन, आत्मा की कामना के लिये प्यारा होता है, हे मैत्रेयि ! पशु पशुओं की कामना के लिये प्यारे नहीं होते, किन्तु पशु आत्मा की कामना के लिये प्यारे होते हैं । हे मैत्रेयी ! ब्रह्म (ब्राह्मणत्व) ब्रह्म की कामना के लिये प्यारा नहीं होता है, किन्तु ब्रह्म, आत्मा की कामना के लिये प्यारा होता है हे मैत्रेयि ! क्षत्र (क्षत्रियत्व) क्षत्र की कामना के लिये प्यारा नहीं होता है, किन्तु क्षत्र, आत्मा की कामना के लिये प्यारा होता है । हे मैत्रेयि ! लोक (पृथिवी-आदि) लोकों की कामना के लिये प्यारे नहीं होते किन्तु लोक आत्मा की कामना के लिये प्यारे होते हैं । हे मैत्रेयि ! देवता (अग्नि

आदि) देवताओं की कामना के लिये प्यारे नहीं होते, किन्तु देवता, आत्मा की कामना के लिये प्यारे होते हैं। हे मैत्रेयि ! वेद वेदों की कामना के लिये प्यारे नहीं होते, किन्तु वेद, आत्मा की कामना के लिये प्यारे होते हैं। हे मैत्रेयि ! भूत (प्राण धारी) भूतों की कामना के लिये प्यारे नहीं होते, किन्तु भूत, आत्मा की कामना के लिये प्यारे होते हैं। हे मैत्रेयि ! कोई वस्तु हो, वह सब, उसके लिये प्यारी नहीं होती, किन्तु हर एक वस्तु आत्मा के लिये प्यारी होती है* ।

---

* आत्मा सबको साक्षात् प्यारा है, और जो कुछ हमें प्यारा है, वह इसलिये प्यारा है, कि वह हमारे आत्मा के अनुकूल है। एक ही वस्तु जब पहले अनुकूल है, तो प्यारी है, वही जब प्रतिकूल हो जाती है, तो अप्रिय बन जाती है, गर्मी में ठंडी पवन सुखाती है, वही सर्दी में दुखाती है, और सर्दी में जो धूप सुखाती है, वही गर्मी में दुखाती है। यही बात सब के लिये है, पति हो, वा पत्नी, पुत्र हो, वा पिता, ब्राह्मणत्व हो, वा क्षत्रियत्व, लोक हों वा देवता, वेद हों वा यज्ञ वा यज्ञों के फल (पशु आदि) जो कोई हो, वा जो कुछ हो, सब इसीलिये प्यारा है, कि वह आत्मा की प्रीति का हेतु है। हां आत्मा किसी अवस्था में भी अप्रिय नहीं होता है, वह प्यारा है, पर किसी दूसरे के लिये प्यारा नहीं, किन्तु अपने आप प्यारा है।

यहां बहुत उदाहरण देने से जितने प्रकार की वस्तुएं मनुष्य को प्रायः प्यारी लगती हैं, प्रायः उनको गिना दिया

है, परन्तु अनुकूलता इन्हीं में समाप्त नहीं होती, इतनी असंख्यात वस्तुओं की विद्यमानता में उसका गिनना असंभव है, और फिर जब कि विष भी कभी अनुकूल हो जाता है, इसलिये अन्त में 'सर्वस्य कामाय' पढ़ा है।

आत्म दर्शन की आवश्यकता और उसके उपाय।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

सचमुच हे मैत्रेयि! आत्मा है, जो दर्शन करने योग्य है,* श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है और निदिध्यासन करने (ध्यान देने) के योग्य है †।

आत्मा को जान कर फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता है।

मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्

---

*यह कितनी बड़ी भूल है, कि हम दुनिया के पीछे लग कर उसी को भूले हुए हैं, जिसके लिये यह सारी दुनिया है।

†यहां आत्मा का दर्शन फल है, और श्रवण, मनन, निदिध्यासन यह तीनों दर्शन के उपाय हैं। श्रवण-किसी पहुंचे हुए गुरु वा शास्त्र से आत्मा की बाबत उपदेश लेना। मनन, युक्तियों द्वारा उसका अनुमान करना। निदिध्यासन-लगातार उस पर ध्यान जमाना, इस प्रकार जिज्ञासु आत्मा के साक्षात् दर्शन कर लेता है।

हे मैत्रेयि ! जब आत्मा का दर्शन कर लिया, श्रवण कर लिया, मनन कर लिया और जान लिया, तब यह सब कुछ जान लिया है* ।

---

* आत्मा को जान कर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, फिर उसको जानना कुछ शेष नहीं रहता । और कि—पुरुष को अपने स्वरूप पर पहुंचने के लिये इस प्राकृत जगत् की सूक्ष्मता के सारे तारतम्य को जानते हुए अन्त में प्रकृति को भी जान कर फिर आत्मा को जानना होता है, और फिर कोई मनजल आगे पहुंचने की नहीं रहती, जैसाकि कहा है:—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ १० ॥

महतः परम व्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः ।११(कठ०३)

इन्द्रियों से परे (=सूक्ष्म) अर्थ (सूक्ष्मतन्मात्र=शब्द-तन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र,गन्धतन्मात्र) हैं, अर्थों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे महान् आत्मा (महत्तत्व) है ॥ १० ॥ महत् से परे अव्यक्त (प्रकृति) है, अव्यक्त से परे पुरुष है, पुरुष से परे कुछ नहीं है, वह काष्ठा (हद) है, वह सब से परली गति (मनज़ल) है ।११॥ सो इस आशय से कहा जाता है कि आत्मा के जानने पर सब कुछ जाना जाता है ।

जो कुछ आत्मा के लिये प्यारा है, केवल उस ही की लग्न.पुरुष को अपने स्वरूप से परे हटाती है।

ब्रह्म तं परादाद्, योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद; क्षत्रं तं परादाद्, योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद; लोकास्तं परादुः; योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद; देवास्तं परादुः, योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद; वेदास्तं परादुः, योऽन्यत्रात्मनो वेदान्वेद। भूतानि तं परादुः, योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद। सर्वं तं परादाद्, योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद। इदं ब्रह्म, इदं क्षत्रं, इमे लोकाः, इमे देवाः, इमे वेदाः, इमानि भूतानि, इदꣳसर्वम्, यदयमात्मा ॥ ७ ॥

ब्राह्मणत्व ने उसको परे हटा दिया है, जो आत्मा से अलग ब्राह्मणत्व को जानता है, क्षत्रियत्व ने उसको परे हटा दिया है जो आत्मा से अलग क्षत्रियत्व को जानता है, लोकों (पृथिवी आदि) ने उसको परे हटा दिया है जो आत्मा से अलग लोकों को जानता है, देवताओं (अग्नि आदि) ने उस को परे हटा दिया है जो आत्मा से अलग देवताओं को जानता है। वेदों ने उसको परे हटा दिया है, जो आत्मा से अलग वेदों को जानता है, भूतों (प्राणधारियों) ने उसको

परे हटा दिया है, जो आत्मा से अलग भूतों को जानता है। सब ने उसको परे हटा दिया है, जो आत्मा से अलग सब को जानता है।

यह ब्राह्मणत्व, यह क्षत्रियत्व, यह लोक, यह देव, यह वेद, यह प्राणधारी, यह सब कुछ, यह है—जो यह आत्मा है।

एक मुख्य वस्तु को पकड़ने से और किसी के पकड़ने की आवश्यकता नहीं रहती।

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय, दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥ स यथा शंखस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय, शंखस्यतु ग्रहणेन शंखध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ९ ॥ स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय, वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ १० ॥

जैसे दुन्दुभि जब ताड़ी जा रही है, तो उसके बाहरले शब्दों को नहीं पकड़ सकते, पर दुन्दुभि के पकड़ने से वा दुन्दुभि के ताड़ने वाले के पकड़ने से शब्द पकड़ा जाता है ॥ ८ ॥ और जैसे शङ्ख जब फूंका जाता है, तो उसके बाहरले

शब्दों को नहीं पकड़ सकते, पर शङ्ख के पकड़ने से वा शङ्ख के फूंकने वाले के पकड़ने से शब्द पकड़ा जाता है ॥ ९ ॥ और जैसे वीणा जब बजाई जाती है, तो उसके बाहरले शब्दों को नहीं पकड़ सकते, पर वीणा के पकड़ने से वा वीणा बजाने वाले के पकड़ने से शब्द पकड़ा जाता है ॥ १० ॥

यह सब एक बड़ी सत्ता से प्रकट होकर आत्मा के प्रिय करने में दौड़ रहा है

स यथा ऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग् धूमा विनिश्चरन्ति, एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसित मेतद्, यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि, अस्यैवैतानि निश्वसितानि ॥ ११ ॥ य यथा सर्वासामपाꣳसमुद्र एकायनम्, एवꣳ सर्वेषाꣳ स्पर्शानां त्वगेकायनम्, एवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनम्, एवꣳ सर्वेषाꣳ रसानां जिह्वैकायनम्, एवꣳ सर्वेषाꣳ रूपाणां चक्षुरेकायनम्, एवꣳ सर्वेषाꣳ

शब्दानाᳫं श्रोत्र मेकायनम्, एवᳫं सर्वेषाᳫं संकल्पानाᳫं हृदयमेकायनम्, एव ᳫं सर्वेषां कर्मणां हस्तावेकायनम्, एवᳫं सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनम्, एवᳫं सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनम्, एवᳫं सर्वेषामध्वनां पादावेकायनम्, एवᳫंसर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥१२॥

जैसे सारे जलों का समुद्र एक आश्रय (एकगति है, सारे जल समुद्र की ओर जाते हैं) इसी प्रकार सारे स्पर्शों का त्वचा एक आश्रय है, सारे गन्धों का नासिकाएं एक आश्रय हैं, सारे रसों का जिह्वा एक आश्रय है, सारे रूपों का आंख एक आश्रय है, सारे संकल्पों का मन एक आश्रय है, सारी विद्याओं का हृदय एक आश्रय है, सारे कर्मों का हाथ एक आश्रय है, सारे आनन्दों का उपस्थ एक आश्रय है, सारे मार्गों (हर एक बाट) का पाओं एक आश्रय हैं, सारे वेदों की वाणी एक आश्रय है* ॥ १२ ॥

आत्मा केवल चैतन्यरूप है, जो इस देह में प्रकट हो कर देह में ही छिप जाता है।

'स यथा सैन्धवघनो ऽनन्तरो ऽबाह्यः कृत्स्नो रसघनएव, एवं वा अरे ऽयमा-

---

* इस प्रकार सारा जगत् इन्द्रियों के द्वारा अपनी भेंट आत्मा के पास पहुँचा रहा है॥

त्मा ऽनन्तरो ऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवै- तेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति, न प्रेत्यसंज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमि' इति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १३ ॥

जैसे एक लवण का ढेला हो, न उसके कुछ अन्दर है, न बाहर, किन्तु सारे का सारा वह एक रस का ही ढेला है, इसी प्रकार हे मैत्रेयि ! यह जो आत्मा है, न इसके कुछ अन्दर है, न बाहर है, किन्तु यह सारे का सारा एक चेतनता का ही ढेला है, जो इन भूतों (प्राणधारियों) से प्रकट होकर इन्हीं में गुम हो जाता है,* ।

इस पर मैत्रेयी का संशय और याज्ञवल्क्य का उत्तर

सा होवाच मैत्रेयी—'अत्रैव मा भगवान् मोहान्तमापीपिपत्, न वा अहमिमं विजानामि' इति । स होवाच— 'न वा अरे ऽहं मोहं ब्रवीमि, अविनाशी वा अरे ऽयमात्मा ऽनुच्छित्तिधर्मा' । १४ ।

---

* अभिप्राय यह है—कि जैसे परदे से निकल कर नट अपना खेल खेल करके फिर परदे में छिप जाता है, इसी तरह यह आत्मा फिर अपने परदे में गुम हो जाता है—

तब मैत्रेयी ने कहा 'यहां भगवन्! आपने मुझे घबराहट में डाल दिया है, मैं निःसन्देह इसको नहीं समझी हूं'।

उसने कहा 'हे मैत्रेयि! मैं घबराहट की बात नहीं कहता हूं, निःसन्देह यह आत्मा अविनाशी है, जो कभी उच्छिन्न नहीं होता' * ॥ १४ ॥

आत्मा का शुद्ध स्वरूप और उसका इन्द्रियों की पहुंच से परे होना।

यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति, तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरꣳ रसयते, तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतरꣳ शृणोति, तदितर इतरं मनुते, तदितर इतरꣳ स्पृशति, तदितर इतरं विजानाति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तत्केन कं पश्येत्, तत्केन कं जिघ्रेत्, तत्केन कꣳ रसयेत्, तत्केन कमभिवदेत्, तत्केन कꣳ शृणुयात्, तत्केन कं मन्वीत,

---

* 'मरने के पीछे कोई पता नहीं है', यह वचन साफ नहीं था, इसका यह अभिप्राय भी हो सकता है, कि आत्मा देह के नाश के साथ ही नष्ट हो जाता है, सो दुबारा पूछकर मैत्रेयी ने इसके अभिप्राय को साफ करा लिया है, कि आत्मा कभी नष्ट नहीं होता, किन्तु छिप जाता है।

तत्केन कं ँ स्पृशेत्, तत्केन कं विजानीयाद्, येनेदँ सर्वं विजानाति, तं केन विजानीयात्। स एष नेति नेत्यात्मा ऽगृह्यो नहि गृह्यते ऽशीर्यो नहि शीर्यते ऽसङ्गो नहि सज्जते ऽसितो न व्यथते न रिष्यति । विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ।

क्योंकि जहां द्वैत होता है, वहां दूसरा दूसरे को देखता है, वहां दूसरा दूसरे को सूंघता है, वहां दूसरा दूसरे को चखता है, वहां दूसरा दूसरे के साथ बात करता है, वहां दूसरा दूसरे को सुनता है, वहां दूसरा दूसरे को समझता है, वहां दूसरा दूसरे को छूता है, वहां दूसरा दूसरे को जानता है; पर जब यह सब आत्मा ही हो गया, तो किससे किसको देखे, किससे किसको सूंघे, किससे किसको चखे, किससे किसके साथ बात करे, किससे किसको सुने, किससे किसको समझे, किससे किसको छुए, किससे किसको जाने; जिससे इस सबको जानता है, उसको किससे जाने ? यह आत्मा जिसका वर्णन नेति नेति है, वह यह अगृह्य है, क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जाता, वह अटूट्य है, क्योंकि वह तोड़ा नहीं जाता, वह असंग है, क्योंकि वह किसी के साथ नहीं जुड़ता, वह बन्धनरहित है, न वह रोगी होता है, न मरता है। हे मैत्रेयि ! इस जानने वाले को किससे जाने ।

संवाद की समाप्ति और याज्ञवल्क्य का संन्यास } इत्युक्तानुशासनासि मैत्रेयि! एतावदरे खल्वमृतत्वम्' इति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ।१५।

हे मैत्रेयि! तुझे शास्त्र का रहस्य कह दिया है, इतना ही हे प्रिये अमृतत्व है, यह कहकर याज्ञवल्क्य चला गया ।१५।

(बृह० ४ : ५)

—:०:—

तीसरा अध्याय-(पुनर्जन्म के वर्णन में)।

—:-०-:—

आत्मा अमर है अतएव मृत्यु शरीर के लिये है न कि आत्मा के लिये। } येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः (कठ० १।२०) न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥ हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ

तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

(कठ० २)

(मरने के पीछे आत्मा की हस्ती के विषय में नचिकेता ने यम से प्रश्न किया है, कि) मर गए हुए मनुष्य के विषय में जो यह संशय है, कई कहते हैं, कि "वह है" और दूसरे कहते हैं, "नहीं है"। आपकी शिक्षा से मैं इस बात को जान जाऊं; वरों में से तीसरा वर यह है ॥ २० ॥ (इसके उत्तर में यम उसको यह बतलाते हैं—)

यह जो (इस शरीर में) चेतन है, यह न जन्मता है, न मरता है, न यह किसी से बना है, न इससे कुछ बनता है। यह अजन्मा है, नित्य है, पुराना है, पर सदा एकरस है, शरीर के मरने पर यह नहीं मरता है ॥ १८ ॥ मारने वाला यदि समझता है, कि मैंने मार डाला है, और मरने वाला समझता है, कि मैं मरता हूं, तो वह दोनों नहीं जानते हैं, यह न मारता है, न मरता है* ॥ १९ ॥

---

* किञ्चिद् भेद के साथ यह दोनों श्लोक गीता (२। १९—२०) में उद्धृत किये हैं :—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

जन्म मरण शरीर के साथ संयोग वियोग का नाम है। } स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीर मभिसम्पद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते । स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति (बृह० ४ । ३ । ८)

यह पुरुष जब जन्मता है अर्थात् शरीर को धारण करता है, तो बुराइयों से जुड़ता है, और जब मरता है, अर्थात् (शरीर से) निकलता है, तो बुराइयों को छोड़ जाता है* ।

जो जनता है कि यह मारने वाला है और जो समझता है कि यह मरता है, वह दोनों नहीं जानते हैं, यह न मारता है न मरता है ॥ १९ ॥

यह न कभी जन्मता है न मरता है यह होकर फिर कभी न होगा ऐसा नहीं है, यह अजन्मा है, नित्य है, एकरस है, पुराना है, शरीर के मरने पर नहीं मरता है ॥ २० ॥

'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' । इति (छान्दो० ६ । ११ । ३) ।

(उद्दालक का श्वेतकेतु के प्रति उपदेश) जीव से अलग हुआ यह (शरीर) मरता है, न कि जीव मरता है ।

* बुराइयों से तात्पर्य—किसी से ईर्ष्या किसी से द्वेष, किसी की निन्दा, किसी की स्तुति, इत्यादि बुराइयों से है, जब जन्मता है, तो किन्हीं क्षुद्र प्रलोभनों से ईर्ष्या द्वेष वैर

यह जन्म और मरण बार २ होता रहता है

सस्यमिवमर्त्यः पच्यते सस्य-मिवाजायते पुनः ।

(कठ० १।६)

खेती की तरह मर्त्य (मनुष्य) पकता है (पककर गिरता है) और खेती की तरह फिर उत्पन्न होता है।

मरना अपने असली समय पर और उससे पहले भी होता है।

स य एवमेतद् गायत्रं प्राणेषु-प्रोतं वेद, प्राणीभवति, सर्व-मायुरेति, ज्योग्जीवति (छान्दो० २।११।१)

वह जो इस प्रकार इस गायत्र साम को इन्द्रियों में प्रोया हुआ जानता है, वह अविकल इन्द्रियों वाला होता है, सम्पूर्ण आयु को पहुंचता है*, और उज्वल जीना जीता है।

विरोध आदि में पड़ जाता है, जब आप इस दुनिया को छोड़ कर चल देता है, तो यहां के वैर विरोध आदि यहीं छोड़ जाता है उसके लड़ाई झगड़े उनके साथ सदा के लिये बन्द हो जाते हैं, पर हां उनकी वासनाएं साथ लेजाता है, जो उसकी यहां की कमाई है।

* मनुष्य का स्वाभाविक आयु सौ बरस वा उससे भी कुछ अधिक है, सौ से पहले सब अकाल मृत्यु है, चाहे उसका कारण अपनी त्रुटि हो वा माता पिता की हो। इसी लिये प्रार्थना है :—

मृत्यु से पहले के चिन्ह।

स यदोत्क्रमिष्यन् भवति, शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति, नैन मेते रश्मयः प्रत्यायन्ति (बृह० ५ । ५ । २)

जब वह (इस शरीर से) निकलने को होता है, तब वह केवल शुद्ध (किरणों से खाली) ही इस (सूर्य) मण्डल को देखता है, यह रश्मियें इसके पास वापिस नहीं आती हैं।

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे, येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते। तस्यैष घोषो भवति, यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति। स यदोत्क्रमिष्यन् भवति, नैनं घोषं शृणोति।

(बृह० ५ । ९ । १)

यह अग्नि वैश्वानर है, जो यह पुरुष के अन्दर है, जिससे यह अन्न पकता है, जो यह खाया जाता है। उसकी यह ध्वनि है, जिसको कान बन्द करने से सुनता है। अब

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्" हम सौ बरस देखें, सौ बरस जियें, सौ बरस सुनें सौ बरस प्रवचन (पढ़ाना वा उपदेश) करें, सौ बरस अदीन रहें, और सौ से बढ़कर भी।

जब कि वह (इस शरीर से) निकलने को होता है, तब वह इस ध्वनि को नहीं सुनता है।

मरने का समय } पुरुषꣳ सोम्योपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते 'जानासि मां, जानासिमामिति' तस्य यावन्न वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायां, तावज्जानाति ॥ १ ॥ अथ यदाऽस्य वाङ् मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्, अथ न जानाति ।२

(छान्दो० ६ । १५)

हे सोम्य ! जब कोई सख्त बीमार होता है, तो उसके बन्धु आस पास बैठ जाते हैं (यह कहते हुए) 'मुझे जानते हो ? मुझे जानते हो ?' जब तक तो उसकी वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में, और तेज परा देवता (सत्, ब्रह्म) में लीन नहीं होता, तब तक वह जानता है ॥ १ ॥

पर जब उसकी वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परादेवता में लीन हो जाता है, तब वह नहीं जानता है ॥ २ ॥

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद् यायाद्,

एवमेवायꣳ शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन् याति, यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति
(बृह० ४ । ३ । ३५)

जैसे लदा हुआ छकड़ा चीकता हुआ (चीं २ करता हुआ) चलता है, इस प्रकार यह देही आत्मा प्राज्ञ आत्मा से सवारी किया हुआ चल पड़ता है, जब यह लम्बे सांस लेने लगता है।

मरने के निमित्त दो हैं और मरना नए जीवन के लिये है।

स यत्रायमणिमानं न्येति, जरयावोपतपता वाऽणिमानं निगच्छति। तद्यथाऽऽम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात् प्रमुच्यते, एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव (बृह० ४ । ३ । ३६)

जब कि यह बड़ी निर्बलता (कमज़ोरी) में जा पड़ता है बुढ़ापे से या सख्त बीमारी* से निर्बलता में डूब जाता है।

---

* असली मृत्यु पूरे बुढ़ापे में पहुँचकर होता है, और किसी सख्त बीमारी से अकाल मृत्यु भी होता है, इसलिये "जरया वोपतपता वा"=बुढ़ापे से, या सख्त बीमारी से' यह दो कारण बतलाए हैं। उपताप=सख्त बीमारी, उपलक्षण है,

तो, जैसे आम, या गूलर (अंजीर) या पीपल (फल) डंडी से छूट जाता है, इसी प्रकार यह पुरुष इन अंगों से छूट (जुदा हो) कर नए जीवन के लिये फिर* उलटा अपनी नियत योनि की ओर भागता है (जो उसने अपने कर्मों से कमाई है)।

नए जन्म में यह सृष्टि अब की तरह उसकी फिर सेवा के लिये तय्यार रहती है।

तद्यथा राजानमायान्त-मुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रा-मण्योऽन्नैः पानै रावसथैः प्रतिकल्पन्ते ऽयमायात्यय मागच्छतीति, एवꣳ हैवं विदꣳसर्वाणि भूतानि प्रति कल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति (बृह० ४।३।३७)

जिस तरह जब किसी राजा का आगमन है, तो सिपाही, मैजिस्ट्रेट, घोड़ों के चलाने वाले (सूत) और हाकिम

डूबकर, जलकर, वा कटकर मरने आदि का। अकाल मृत्यु से बचना ही धर्म्म है, पर किसी शुभ उद्देश्य को लक्ष्य में रख कर मृत्यु सर्वदा सराहणीय है।

* "पुनः=फिर" कहने से यह सिद्ध होता है, कि यह पुरुष पहले भी एक देह से दूसरे देह में गया है। जीवात्मा जैसे स्वप्न जाग्रत में बार २ जाता है, इसी तरह एक देह से दूसरे देह में बार २ जाता है।

लोग अन्न पान और महलों से उसके लिये तय्यार रहते हैं, यह कहते हुए "यह आरहा है, यह आया" इसी तरह इस बात को समझने वाले के लिये सारे भूत तय्यार रहते हैं, (यह कहते हुए) यह ब्रह्म* आरहा है, यह आया"।

मरने के समय इन्द्रियें आत्मा के पास इकट्ठी होती हैं।

तद्यथा राजानं प्रयियासन्त मुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यो ऽभिसमायन्ति, एव मेवेममात्मान मन्तकाले सर्वे प्राणा अभि समायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति (बृह० ४।३।३८)

---

* ब्रह्म,=बढ़ाने वाला, जिसके सहारे में वृद्धि वा परिणाम होता है। इस जगत् के परिणाम में परमात्मा हेतु है, और इस शरीर के परिणाम में जीवात्मा हेतु है। जीव के प्रवेश से ही रजवीर्य्य में परिणाम होकर शरीर बनता है, अन्यथा रजवीर्य्य गन्दे होकर नष्ट हो जाते हैं। सो इस परिणाम का हेतु होने से जीवात्मा को ब्रह्म कहा है। और कि—जीव इस दुनिया को भोगने वाला और बनाने वाला है, बनाने वाला इसलिये, कि यह उसके कर्म का फल है, जैसी दुनिया में आत्मा जाता है, वह मानो उसके लिये उसके कर्मों ने बनाई है, इसीलिये कहा है—"कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते" अपनी बनाई हुई दुनिया में पुरुष पैदा होता है।

और जैसे राजा के जाते समय सिपाही, मजिस्ट्रेट, घोड़ों के चलाने वाले, और हाकिम लोग इकट्ठे होकर आते हैं, इसी प्रकार सारे प्राण (इन्द्रिय) अन्तकाल में इस आत्मा के पास इकट्ठे होकर आते हैं, जब यह लम्बे २ सांस भरता है।

किस विशेष समय पर इन्द्रियें आत्मा के पास इकट्ठी होती हैं, और उसका क्या चिन्ह होता है

स यत्रायमात्मा ऽबल्यंन्येत्य संमोहमिवन्येति, अथैनमेते प्राणा अभि समायन्ति। स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति। स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्तते, ऽथारूपज्ञो भवति॥१॥ एकीभवति न पश्यतीत्याहुः। एकीभवति न जिघ्रतीत्याहुः। एकीभवति न रसयत इत्याहुः। एकीभवति न वदतीत्याहुः। एकीभवति न शृणोतीत्याहुः। एकीभवति न मनुत इत्याहुः। एकीभवति न स्पृशतीत्याहुः। एकीभवति न विजानातीत्याहुः (बृह० ४। ४। १-२)

जब यह आत्मा निर्बलता में डूबकर मानों* बेखबरी

---

* वस्तुतः चेतन आत्मा कभी बेखबर नहीं होता,

(वेदवार्सा) में डूबता है, तब सारे इन्द्रिय इकट्ठे होकर इस के पास आते हैं, और वह इन तेज की मात्राओं* को इकट्ठा ले करके हृदय में उतरता है। और जब यह चाक्षुष पुरुष† बाहर वापिस हो जाता है, तब यह रूप को नहीं जानता है।

वह एक हो जाता है,‡ (तब पास के लोग) कहते हैं 'अब देखता नहीं है' एक हो जाता है, कहते हैं, 'सूंघता नहीं है' एक हो जाता है, कहते हैं, 'रस नहीं जानता है' एक हो जाता है, कहते हैं, 'बोलता नहीं है' एक हो जाता है, कहते हैं 'सुनता नहीं है' एक हो जाता है, कहते हैं 'सोचता नहीं है' एक हो जाता है, कहते हैं 'छूता नहीं है' एक हो जाता है, कहते हैं, 'जानता नहीं है'।

आत्मा शरीर से कब निकलता है और किस अंग से निकलता है।

तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते, तेन प्रद्योतेनैष

किन्तु बाहर की ओर से बेखबर हो जाता है।

* तेज की मात्रा=इन्द्रियों की असल शक्तियें।

† चाक्षुष पुरुष—आंख में का पुरुष, सूर्य का अंश जो आंख में है, जब कि आंख काम करती है, और जो मरने के समय निकल कर सूर्य में जा मिलता है। (शंकराचार्य)

‡ इन्द्रिय जब लिङ्ग शरीर (सूक्ष्म शरीर) के साथ एक हो जाता है, अलग काम नहीं करता। इसी विषय में कौषी० उप० ३। ३ में कहा है 'प्राण एकीभवति' प्राण में एक होता है।

आत्मा निष्क्रामति, चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः (बृह० ४ । ४ । २)

(जब इन्द्रियों की शक्तियें हृदय में एक हो जाती हैं, तब) उसके हृदय का अग्र* प्रकाशवाला होता है, उस प्रकाश से यह आत्मा निकलता है या तो आंखों† से, या मूर्धा‡ (सिर) से या शरीर के दूसरे हिस्सों§ से ।

आत्मा के साथ और क्या जाता है । } तमुत्क्रामन्तं प्राणो ऽनूत्क्रामति प्राण मनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति (बृह० ४ । ४ । २)

और जब निकलता है, तो मुख्य प्राण उसके पीछे निकलता है, और जब मुख्य प्राण निकलता है, तो सारे प्राण (इन्द्रिय) उसके पीछे निकलते हैं‖ ।

---

* यह हिस्सा जहां हिताना.ड़ियें हृदय से ऊपर जाती हैं

† जब उसका ज्ञान और कर्म उसके लिये सूर्य लोक की प्राप्ति के साधन होते हैं (शंकराचार्य)

‡ जब उसका ज्ञान और कर्म उसके लिये ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधन होता है ।

§ अपनी २ गति के अनुसार जैसे २ फल भोग के लिये उसने जाना है ।

‖ पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय मन और बुद्धि यह सत्तरह तत्व आत्मा के साथ जाते हैं, यही लिंगशरीर, सूक्ष्म शरीर वा आतिवाहिक शरीर है ।

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः।

(प्रश्न० ३।९)

तेज उदान है, इसलिये जिसके (शरीर) का तेजः ठण्डा होगया है, वह पुनर्जन्म (नए जीवन) को प्राप्त होता है, अपनी सारी इन्द्रियों समेत, जो उस समय मन में लीन हो गई हैं।

वह किस अवस्था में होकर चलता है। } सविज्ञानो भवति, सविज्ञानमेवा न्ववक्रामति।

(बृह० ४।४।२)

वह विज्ञानसहित होता है और विज्ञानसहित ही चलता है*।

अगले जन्म के कारण क्या है? } तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च (बृह० ४।४।२)

---

* विज्ञान, यहां उन वासनाओं से तात्पर्य है, जो उसके जीवन भर की कमाई है, जैसे ज्ञान और कर्म उसने सेवन किये हैं, जिनका फल उसने अब परलोक में भोगना है, उनके अनुसार उसकी वासनायें इस अवस्था में जाग पड़ती हैं, और वह उन संस्कारों को साथ लेकर चलता है, इसलिये वह जो अपने इस समय को रमणीय बनाना चाहता है, उसे पहले ही श्रद्धा के साथ परमात्मा की भक्ति और भलाई का संचय करना चाहिये।

उसको (उसकी) विद्या (उपासना) और कर्म सहारा देते हैं, और पहली प्रज्ञा (बुद्धि) भी* ।

वह अगले जन्म के लिये सहारा पकड़ कर पिछले को छोड़ता है } तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वा ऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मान मुप स ँ हरति, एवमेवायमात्मेद ँ शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वा ऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मनमुप स ँ हरति (बृह० ४।४।३)

जैसे जुलगा (सुंडी) तिनके के सिरे पर पहुँचकर

---

* विद्या कर्म और पूर्वप्रज्ञा, यह ही तीनों परलोक का सहारा बनते हैं, जैसे कर्म हैं और जैसा ध्यान है, तदनुसार उसको उच्च नीच योनि मिलती है । और जो स्वभावतः बच्चों में समझ का भेद पाया जाता है, वह उनकी पूर्वप्रज्ञा के अनुसार होता है । यह स्पष्ट देखने में आता है, कि कई बच्चे थोड़ासा अभ्यास करने से ही चित्र खींचने आदि में ऐसे चतुर निकलते हैं, जैसे दूसरे बहुत अभ्यास से भी नहीं । ऐसे ही सब प्रकार की बातों में किसी में तो कौशल और किसी में अकौशल देखते हैं । यह सब उनकी पूर्वप्रज्ञा के प्रगट होने और न होने के कारण है । अतएव मनुष्य को अपने इस जन्म के सुधार की तरह दूसरे जन्म के सुधार के लिये भी शुभ विद्या शुभ कर्म और शुभ प्रज्ञा सम्पादन करनी चाहिये ।

एक दूसरे सहारे को पकड़ कर अपने आपको खींच लेता है, इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को परे फैंक कर—अचेतन बनाकर, एक दूसरे सहारे* को पकड़ कर अपने आपको खींच लेता है।

अन्त्यमति सो ही गति } यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति, प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति।

(प्रश्न० ३।१०)

(अब मरने के समय) वह जैसे चित्त वाला है, उस (चित्त) के साथ वह प्राण की ओर आता है, और प्राण तेज (उदान) के साथ युक्त होकर आत्मा के सहित (उस सूक्ष्म शरीर को) अपने लिये तय्यार किये हुए लोक में लेजाता है †।

---

* यह अभिप्राय नहीं, कि आत्मा जब तक दूसरे शरीर में प्रवेश नहीं कर लेता, तब तक पिछले शरीर को नहीं छोड़ता, क्योंकि यह असम्भव है। पिछले शरीर को छोड़कर ही नए में प्रवेश के क्रम से प्रविष्ट होना होता है। इसलिये यहां दूसरे सहारे से अभिप्राय उन वासनाओं से है, जिनका फल उसने अगला देह धारना है, वह वासनाएं उस समय उसके सामने प्रगट होती हैं, और उनके अनुसार वह नया देह धारता है।

† यह लोक प्रसिद्ध बात है, कि "अन्त्य मति सो ही

इसी विषय को गीता में इस प्रकार स्पष्ट किया है।

अन्तकाले च मामेवस्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।५।
यं यंवाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदातद्भावभावितः । ६ ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः । ७ ।

(अ० ८)

अन्त समय में जो केवल परब्रह्म का ही स्मरण करता हुआ शरीर को छोड़ कर चलता है, वह ब्रह्म को पा लेता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ५ ॥

गति" मरने के समय जैसे संकल्प होते हैं, वैसे ही पुरुष की गति होती है। यह बात तो ठीक है, पर इसके समझने में भूल नहीं करनी चाहिये। ऐसा कभी भूलकर भी मत समझो, कि पहले चाहे कुछ ही करते रहो, अन्त्य समय में चित्त को परमात्मा में लगा लेंगे। तुम्हारा चित्त जिन बातों में अब लग रहा है, उसी के संस्कार उस पर पड़ रहे हैं, वही संस्कार अन्त्य समय में तुम्हारे सामने आवेंगे सो यह याद रक्खो, कि जीवित काल में जो २ कर्म और ज्ञान सम्पादन किये हैं, मरण काल में वैसी ही वासनाएं प्रकट होती हैं, उन्हीं के अनुसार जिस लोक का अधिकारी है उसको जाता है।

* अथवा जिस २ भाव का स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर को त्यागता है, उस २ को ही हे अर्जुन! प्राप्त होता है, क्योंकि वह सदा उसकी वासनाओं से वासित (वासना वाला) है ॥ ६ ॥

† इसलिये सब समयों में परमात्मा का ध्यान कर और युद्ध कर (अपना धर्म पालन कर) तू मन और बुद्धि का परमात्मा में अर्पण कर देने से परमात्मा को ही प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं ॥ ७ ॥

जिसने परमात्मा के प्रेम में अपने चित्त को रङ्गा हुआ है, और योग के द्वारा चित्त को और सब ओर से हटाकर एक मात्र परमात्मा में स्थिर करने का पहले ही अभ्यास किया हुआ है, उसके मरण समय का इस प्रकार वर्णन किया है:—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।

---

* ब्रह्म के ध्यान से जैसे ब्रह्म की प्राप्ति का नियम है, इसी प्रकार उस समय और भी जैसा ध्यान हो, उसी की प्राप्ति होती है, और इसमें यह हेतु है, कि सदा वह उन वासनाओं से वासित होरहा है, इस हेतु से स्पष्ट कर दिया है, कि यह वासनाएं जो उस समय सामने आती हैं, यह पहले से ही चित्त पर जमी हुई होती हैं।

† जिस लिये इस तरह पर अन्त की भावना अगले शरीर की प्राप्ति में कारण है, इसलिये।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥
कविं पुराणमनुशासितार मणोरणीयांसमनु-
स्मरेद् यः । सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्य-
वर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥ प्रयाणकाले मनसा
ऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव । भ्रुवो-
र्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति
दिव्यम् ॥ १० ॥ यदक्षरं वेदविदो वदन्ति वि-
शन्ति यद् यतयो वीतरागाः । यदिच्छन्तो
ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायाऽऽत्मनः प्राणमास्थितो योगधार-
णाम् ॥ १२ ॥ ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्
मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति
परमां गतिम् ॥१३॥ (अ० ८)

वह चित्त जो योगाभ्यास से युक्त है, और (सिवाय परमात्मा के) किसी दूसरे में नहीं जाने वाला है, ऐसे चित्त

से ध्यान करता हुआ हे अर्जुन! वह परम, दिव्य, पुरुष को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

सर्वज्ञ, पुराने, सब पर शासन करने वाले, सूक्ष्म से सूक्ष्म सब के रचनेहार, अचिन्त्यरूप, अन्धकार से परे आकाशमय पुरुष को जो चिन्तन करे ॥ ९ ॥ और मरने के समय निश्चल मन से, भक्ति से, और योगबल से युक्त हुआ, भुवों के मध्य में ठीक २ प्राण को स्थापन करे, वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है ॥ १० ॥ वेद के जानने वाले जिसको अक्षर (अविनाशी) कहते हैं, और वीतराग यति लोग जिस में प्रवेश करते हैं, जिसके पाने की इच्छा से ब्रह्मचर्य्य को आचरण करते हैं, मैं तुझे वह पद संक्षेप से कहूंगा ॥ ११ ॥ सारे द्वारों को रोक कर और मन को हृदय में रोक कर और (हृदय से ऊपर जाने वाली नाड़ी के द्वारा) अपने प्राण को मूर्धा में स्थापन करके योग की (निश्चल) धारणा में प्रवृत्त हुआ ॥ १२ ॥ ओम् इस प्रकार अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और परब्रह्म का स्मरण करता हुआ जो चलता है वह इस देह को त्याग कर, परमगति को पहुंचता है ॥ १३ ॥

यहां की कमाई का फल भुगानेके लिये उदान उसे परलोक में लेजाता है ॥

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ।

(प्रश्न ३ । ७)

अब उदान, जो ऊपर को जाने वाला है वह एक नाड़ी (सुषुम्णा) के द्वारा पुण्य से पुण्य लोक (देव लोक) को

ले जाता है पाप से पापलोक (पशु कीट आदि के जन्म) को और दोनों (पाप, पुण्य) से मनुष्य लोक को (लेजाता है)।

चैंतन्य आत्मा जिधर झुकता है वही कुछ बन जाता है।

सवा अयमात्मा ब्रह्म, विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयः । तद्यदेतादिदंमयो ऽदोमयइति यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति । पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन । अथो खल्वाहुः 'काममय एवायं पुरुष' इति। सयथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते ।

(बृह० ४ । ४ । ५)

यह आत्मा ब्रह्म विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, नेत्रमय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय,

धर्ममय, अधर्ममय, और सर्वमय है*। सो यह जो कि यह

* आत्मा ब्रह्म के सदृश स्वरूप से चितिरूप है, वह जिसमें लगता है, तन्मय (वही रूप) हो जाता है। बुद्धि से निश्चय करता हुआ विज्ञानमय (बुद्धि रूप) और मन से इरादा करता हुआ मनोमय (मन रूप) बन जाता है। प्राण से जीवन की रक्षा करता हुआ प्राणमय, आंख से देखता हुआ नेत्रमय और कान से सुनता हुआ श्रोत्रमय है। वह जिस प्रकार प्राण और इन्द्रियों में तत्तद्रूप प्रतीत होता है। इसी प्रकार वह इस भौतिक शरीर में भूतमय (शरीर रूप) बन जाता है और इसी प्रकार वह हृदय के भावों में और अपनी लग्न में तत्तद्रूप बन जाता है। कामनाओं में पड़कर वह काममय बन जाता है, और कामना को त्यागकर अकाम-मय है। एक आत्मा तो इतना कामनाओं में लवित है, कि वह काममय बना हुआ है और दूसरा इतना निष्काम है, कि उसमें कोई कामना ही नहीं। एक तो कौड़ी के बदले धर्म भी हार देता है और दूसरा राज्य पर भी लात मार देता है, यह भेद जिस तरह भिन्न २ आत्माओं में है, ठीक उसी तरह एक ही आत्मा की भिन्न २ अवस्थाओं में भी होता है। इसी प्रकार यह आत्मा क्रोधमय बन जाता है और शान्तिमय भी बन जाता है। धर्म की लग्न में यह धर्ममय होजाता है और अधर्म की लग्न में अधर्ममय बन जाता है। इस प्रकार यह आत्मा सर्वमय (स्वरूप) है। यह जैसा इस दुनियां में चलता है, वैसा ही बन जाता है और वैसा ही आगे जाकर फल पाता है।

मय और वह मय (यह रूप और वह रूप) है । यह जैसा करने वाला और जैसा चलने वाला (चाल चलन वाला) होता है, वैसा ही वह बनता है—नेकी करने वाला नेक बनता है और बुराई करने वाला बुरा बनता है । पुण्य कर्म से पुण्यात्मा बनता है और पाप कर्म से पापात्मा । किन्तु कहते हैं, कि यह पुरुष कामनामय* ही है, उसकी जैसी कामना होती है, वैसा इरादा होता है, जैसा इरादा करता है, वैसा कर्म करता है, और जैसा कर्म करता है, वैसा फल लगता है।

आत्मा की लय के और उसके कर्मों के संस्कार सूक्ष्म शरीर पर पड़ते हैं, और वह इन संस्कारों से कई रंगों का बन जाता है ।

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् । यथा माहारजनं वासः, यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपः, यथाऽग्न्यर्चिः, यथा पुण्डरीकं, यथा सकृद्विद्युत्तं, सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्यश्रीर्भवति य एवं वेद (बृह० २।३।६)

उस पुरुष (सूक्ष्म शरीर) का रूप (वर्णन करते हैं) केसर के रंग से रंगे हुए वस्त्र की नाईं (केसरी) भूसली ऊन की नाईं (भूसला) बीरबहूटी की नाईं (लाल) श्वेत कमल की नाईं (श्वेत), एक दम बिजली की चमक की

* जैसा चाहता है वैसा बन जाता है और वैसा ही भोगता है इसलिये यह काममय (इच्छामय) है ।

तरह चमकता हुआ*। एक दम बिजली के चमकने की नाईं उसकी शोभा सारे चमक उठती है, जो इस रहस्य को जानता है॥

सूक्ष्म शरीर प्राण और आकाश का सार है। } अथामूर्तम्-प्राणश्च,यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः,एतदमृतम,एतद् यद्,एतत् त्यत्,तस्यैतस्यामूर्तस्य, एतस्यामृतस्य,एतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो, योऽयंदक्षिणेऽक्षन् पुरुषः, त्यस्य ह्येष रसः।

(बृह० २।३।५)

अब अमूर्त † बतलाते हैं, एक तो प्राण और दूसरा यह जो शरीर के अन्दर आकाश है, (यह अमूर्त है) यह

---

* पुण्य, पाप वा मिश्रित (दोनों मिले जुले) जिस प्रकार के मनुष्य कर्म करता है, वैसा ही रंग उसके सूक्ष्म शरीर पर चढ़ता है। जब मनुष्य मरता है, तो यह उसके कर्मों का रंगा हुआ कपड़ा (सूक्ष्म शरीर) उसके साथ जाता है। यह रंग जो ऊपर दिखलाए हैं यह उदाहरणमात्र हैं, कि मनुष्य के भले बुरे कर्मों से इस २ प्रकार का वह रंगा जाता है, किन्तु उसके रंग इतने ही प्रकार के हों यह नहीं है, क्योंकि असंख्यात वासनाएं उत्पन्न होती रहती हैं, जिनका रंग सूक्ष्म शरीर पर चढ़ता रहता है।

† जिसकी कोई नियत मूर्ति नहीं, जो ठोस नहीं।

अमृत है, यह चलने वाला है, यह वह (अर्थात् छिपा हुआ, अव्यक्त) है। इस अमूर्त, इस अमृत, इस चलने वाले, इस अव्यक्त का यह रस (सार, निचोड़) है जो यह दाईं आंख में पुरुष (सूक्ष्म शरीर) है * हां यह उस (अव्यक्त) का रस है।

सूक्ष्म शरीर ही फल भोग के लिए परलोक में साथ जाता है, और कर्म करने के लिए इस लोक में साथ आता है।

तदेव सक्तः सहकर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत् किञ्चेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मैलोकाय कर्मणे।

(बृह० ४।४।६)

उसी में यह फंसा हुआ (मन लगाए हुए) (अपने कमाए हुए) कर्म के साथ जाता है, जहां इसका लिंग (शरीर)–मन†

---

* सूक्ष्म शरीर (लिंग शरीर) की स्थिति विशेष करके दाईं आंख में वर्णन की जाती है। इसका कारण कदाचित् यह हो, कि सूक्ष्म शरीर पर दाईं आंख के द्वारा ही अधिक चित्र खिचते हैं इसी सूक्ष्म शरीर में सारे इन्द्रियों की सूक्ष्म शक्तियां सोई हुई हैं।

† सूक्ष्म शरीर में प्रधान मन है, दूसरे इन्द्रियों की शक्तियें सारी इसी के आश्रित होती हैं, और इसी के इरादे से बाहरी ज्ञान भले बुरे बनते हैं।

बन्धा हुआ है। वहां यह उस कर्म के अन्त को पहुंच कर (कर्म फल को समाप्त करके) जो कुछ यहां करता रहा है, उस लोक से फिर इस लोक की ओर कर्म (करने) के लिये वापिस आता है।

मनुष्य की गति नीचे की ओर स्थावर तक और ऊपर की ओर ब्रह्मा तक है

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् (कठ० ५।७)

(मरकर) शरीर ग्रहण करने के लिये कई शरीरधारी तो योनि में प्रवेश करते हैं, और दूसरे स्थावर भाव को प्राप्त होते हैं, अपने २ कर्म और ज्ञान के अनुसार*।

तद्यथा पेशस्कारी पेशसोमात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳरूपं तनुते, एवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं कुरुते, पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् (बृह० ४।४।४)

जैसे सुनारा किसी सोने के टुकड़े को लेकर उससे

* देखो बृह० ४।४।२।

एक अधिक नया और अधिक सुन्दर (भूषण आदि का) आकार बनाता है, इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को परे फेंक कर अचेतन बनाकर इससे अधिक नया और अधिक सुन्दर रूप बना लेता है-या पितरों का, या गन्धर्वों का, या देवताओं का, या प्रजापति का, या ब्रह्मा का अथवा दूसरे प्राणधारियों का (अपने २ कर्म विद्या और पूर्वप्रज्ञा के अनुसार)।

स्थावर भी सजीव हैं इसी से उनमें जीवन है } अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्, यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत्। स एष जीवेनात्मनाऽनुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥ १ ॥ अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति, द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति, तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति । सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति, एवमेव सोम्य विद्धीति, होवाच ॥ २ ॥ जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते ॥ ३ ॥ (छा० ६ । ११)

(उद्दालक का श्वेतकेतु के प्रति उपदेश) हे सोम्य! यदि कोई इस (सामने स्थित) बड़े वृक्ष को जड़ पर चोट

दे, तो वह जीता हुआ बहेगा* । और यदि कोई इसके मध्य पर चोट दे, तो वह जीता हुआ बहेगा, और यदि कोई उस की चोटी पर चोट दे, तो वह जीता हुआ बहेगा । सो यह (वृक्ष) जीते हुए आत्मा (जीवात्मा) से व्याप्त हुआ (पुष्टि-कारक रसों को) पूरी तरह पीता हुआ हरा भरा होकर खड़ा रहता है ॥ १ ॥ जब यह जीव इसकी एक शाखा को त्याग देता है, वह सूख जाती है, दूसरी को त्याग देता है, वह सूख जाती है । तीसरी को त्याग देता है, वह सूख जाती है, सारे (वृक्ष) को त्याग देता है, सारा वृक्ष सूख जाता है । इसी प्रकार हे सोम्य ! तुम जानो ॥ २ ॥ कि जीव से पृथक् हुआ यह शरीर मरता है, जीव नहीं मरता है ॥ ३ ॥

पृथिवी पर जितनी सजीव सृष्टि है, उसमें क्रमशः चेतनता का अधिकाधिक प्रकाश है और यह सब जन्म कर्मों के अनुसार हैं ।

तस्य य आत्मानमाविस्तरां वेदाश्नुते हाविर्भूयः । ओषधिवनस्पतयो यच्च किञ्चप्राणभृत् स आत्मानमाविस्तरां वेद,

---

* जैसे किसी अंग में चोट लगने पर जीवित पुरुष से रुधिर बह निकलता है, इसी प्रकार इससे रस बहता है, वहां रुधिर जीवन का चिन्ह है, वैसे ही यहां रस है । जब जीव शरीर को छोड़ देता है, तो उसमें रुधिर का सञ्चार बन्द हो जाता है, इसी प्रकार जब जीव वृक्ष को छोड़ देता है, तो उसमें रस का संचार बन्द होकर वृक्ष सूख जाता है ।

ओषधिवनस्पतिषु हि रसो दृश्यते, चित्तं प्राण-भृत्सु । प्राणभृत्सु त्वेवाविस्तरामात्मा, तेषु हि रसोपि दृश्यते, न चित्त मितरेषु । पुरुषेत्वेवा-विस्तरामात्मा,सहि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमो विज्ञातं पश्यति, वेद श्वस्तनं, वेद लोकालोकौ । मर्त्ये-नामृतमीप्सत्येवं सम्पन्नः । अथेत्तरेषां पशूना-मशनापिपासे एवाभिविज्ञानं, न विज्ञातं वद-न्ति, न विज्ञातं पश्यन्ति, न विदुः श्वस्तनं, न लोकालोकौ, त एतावन्तो भवन्ति, यथाप्रज्ञं हि सम्भवाः (ऐत० आ० २ । २)

जो आत्मा की अधिक प्रकटता को जानता है, वह अधिक प्रकटता को भोगता है* ।

ओषधि और वनस्पति और जो कोई प्राणधारी (जंगम, पशुपक्षी) है, वह आत्मा की अधिक प्रकटता को अनुभव करता है†, क्योंकि ओषधि वनस्पतियों में रस‡ दीखता है,

* विद्या, यश और तेज से बड़ा प्रसिद्ध होता है ।

† अर्थात् इनमें आत्मा अधिक प्रकट है ।

‡ रस स्पष्ट जीवन का चिन्ह है, जो पौदों में पाया जाता है । और जीवन सर्वत्र जीव के सहारे है ।

और चित्त* प्राणधारियों में (दीखता है)।

पर (इन दोनों में से भी) प्राणधारियों में ही आत्मा अधिक प्रकट है, क्योंकि उनमें रस भी दीखता है, (जो जीवन का चिन्ह ओषधि वनस्पतियों में है) और चित्त (जो प्राणधारियों में दीखता है) वह दूसरों (ओषधि वनस्पतियों) में नहीं (दीखता)।

पर पुरुष में आत्मा और भी अधिक प्रकट है, क्योंकि वह दानाई की सम्पदा से सम्पन्नतम (सबसे बढ़कर मालदार) हुआ अपने जाने हुए को (बोलकर) बतलाता है, जाने हुए को देखता है। भविष्यत् को जानता है और लोक अलोक† को जानता है।

और दूसरे पशुओं को भूख और प्यास का ही ज्ञान है, न वह जाने हुए को बतलाते हैं, न वह जाने हुए को देखते हैं, न भविष्यत् को जानते हैं, और न लोक अलोक को जानते हैं, बस वह इतने मात्र ही हैं।

यह सारे जन्म अपने २ पूर्वकर्मों की वासनाओं के अनुसार होते हैं।

पुनर्जन्म के विषय में मन्त्र प्रमाण। } गर्भेनु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।

---

* चित्त, चेतन आत्मा जिसके द्वारा किसी वस्तु को चेतता है।

† जो कुछ इस लोक वा परलोक के लिये भला और बुरा है।

शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधश्येनो जवसा निरदीयम्—(ऋग्० ४ । २७ । १)

गर्भ में ही होते हुए मैंने इन देवताओं (इन्द्रियों) के सारे जन्मों का पता लगा लिया है। सौ लोहे के पुरों (किलों) ने मुझे (बंद) रक्खा। पर मैं एक वेग से निकल आया हूं, जैसे बाज (निकलता है) *

चौथा अध्याय (मरने के पीछे की अवस्थाओं के वर्णन में)।

बृहदारण्यक ६ । २ (यह कथा छान्दोग्य ५।३ में भी है)

परलोक के विषय में प्रवाहण के पांच प्रश्न और श्वेतकेतु का उन में निरुत्तर होना।

श्वेतकेतुर्हवा आरुणेयः पञ्चालानां परिषद् माजगाम। स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं

---

* इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है। ऐतरेय उपनिषद् (२ । १) में यह मन्त्र पुनर्जन्म के विषय में प्रमाण दिया गया है। आशय यह है, कि गर्भ में होते हुए अर्थात् बार २ जन्म ग्रहण करते हुए ही मैंने असली तत्त्व को पालिया है, जैसे कोई लोहे के किलों में बंद किया जाय, इस तरह मुझे अनेक शरीरों ने बंद रक्खा, पर अब मैं इन बन्धनों को तोड़ कर निकल आया हूं।

परिचारयमाणं। तमुदीक्ष्याभ्युवाद 'कुमार३' इति स 'भो३' इति प्रतिशुश्राव 'अनुशिष्टो न्वसि पित्रेति' 'ओमिति'' होवाच। १।

श्वेतकेतु—आरुणेय (अरुण का पोता) पञ्चालों की सभा में आया। वह जैवलि (जैवल के पुत्र) प्रवाहण (राजा) के पास आया, जब वह (अपने लोगों समेत) दौरा (या सैर) कर रहा था। ज्यूंही कि (राजा ने) उसे देखा, उसने कहा-'कुमार'। श्वेतकेतु ने उत्तर में कहा 'भगवन्' (राजा ने पूछा) 'क्या तुम पिता से शिक्षा पाचुके हो' (उसने कहा) 'हां'

'वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता ३ इति' 'नेति' होवाच। 'वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता ३ इति'। 'नेति' हैवोवाच। 'वेत्थो यथा ऽसौ लोक एवंबहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न संपूर्यता ३ इति' 'नेति' हैवोवाच। 'वेत्थो यतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुष-वाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती ३ इति'। 'नेति' हैवोवाच। 'वेत्थो देवयानस्य वा प्रतिपदं, पितृ-याणस्य वा, यत्कृत्वा देवयाणं वा पन्थानं प्रति

पद्यन्ते पितृयाणं वा। अपिहि न ऋषेर्वचः श्रुतं 'द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवाना मुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति' नाहमत एकंचन वेदेति होवाच। २।

(प्रवाहण ने कहा) क्या तुम जानते हो, कि जब यह मनुष्य मरते हैं, तो वह किस तरह अलग हो जाते हैं (भिन्न २ रस्ता लेते हैं) ?

उसने उत्तर दिया 'नहीं'।

'तो क्या तुम जानते हो, कि किस तरह वह इस लोक को वापिस आते हैं'।

'उसने यही उत्तर दिया 'नहीं'।

'तो क्या तुम जानते हो, कि जब इस तरह लोग मर २ कर वहां जा रहे हैं, तो वह लोक उनसे क्यों भर नहीं जाता*।

उसने यही उत्तर दिया "नहीं"।

तो क्या यह जानते हो, कि कितवीं आहुति के होम किये जाने पर जल मानुषीवाणी वाले बनकर उठकर फिर बोलने लगते हैं।

उसने यही उत्तर दिया "नहीं"।

---

* यह प्रश्न पितृलोक के विषय में है।

क्या तुम जानते हो देवयान मार्ग की प्राप्ति वा पितृयाण मार्ग की प्राप्ति को, अर्थात् जिसके अनुष्ठान से देवयान मार्ग को प्राप्त होते हैं, वा पितृयाण मार्ग को प्राप्त होते हैं। और क्या (इस विषय पर) यह ऋषि का वचन (मन्त्र) भी नहीं सुना है कि "मैंने मनुष्यों के लिये दो रस्ते सुने हैं, एक पितरों का, दूसरा देवताओं का, यह सारा विश्व जो पिता और माता (द्यौ और पृथिवी) के मध्य में है, वह लगातार चलता हुआ इन्हीं दोनों मार्गों से चला जारहा है"।

उसने कहा "मैं इनमें से एक भी नहीं जानता हूं"*।२।

श्वेतकेतु का घर आकर पिता से इन प्रश्नों का कहना।

अथैनं वसत्योपमन्त्रयाञ्चक्रे। अनादृत्यवसतिं कुमारः प्रदुद्राव। स आजगाम पितरं, तꣳ होवाच 'इति वाव किल नो भवान् पुराऽनुशिष्टानवोचः' इति 'कथं सुमेध' इति। पञ्च

---

* मरने के पीछे क्या होता है इसका पता लगाने में कोई चतुराई काम नहीं देती। हां जिनको दिव्यदृष्टि मिली है, जो उस अवस्था को प्रत्यक्ष देख सकते हैं, उन्हीं को यह अधिकार है, कि इस विषय में कुछ कहें, दूसरों के दम मारने की जगह नहीं। सो हम इस विषय में उतना ही लिखेंगे, जितना कि उपनिषद् हमें साफ २ बतलाते हैं, और उसको भी उतना ही खोलेंगे, जितने में शास्त्र हमारा साथ देते हैं।

मा प्रश्नान् राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्, ततो नैकंचन वेदेति, कतमे त' इति 'इम' इति प्रतीकान्युदाजहार ॥ २ ॥

तब (प्रवाहण ने) इसको रहने* के लिये कहा। पर कुमार (श्वेतकेतु) रहना स्वीकार न करके पीछे भागा, वह पिता के पास आया और उसे कहा—"इस प्रकार आपने हमें† पहले कहा था, कि तुम शिक्षा दिये जा चुके हो"।

(पिता ने कहा) "हे पवित्र समझ वाले! तब क्या बात है"।

पुत्र ने कहा '(देखो) पांच प्रश्न मुझ से उस क्षत्रियबन्धु‡ ने पूछे हैं, उनमें से मैं एक भी नहीं जानता हूं'।

---

* वसति, वास=रहना, से यहां अभिप्राय ब्रह्मचर्य्यवास से है। अर्थात् यहां रहकर तुम ब्रह्मचर्य्यवास करके शिक्षा में अपनी त्रुटि को पूरा करो। अथवा आतिथ्य सत्कार के लिये अपने पास ठहराने से अभिप्राय भी हो सकता है।

† "हमें" यह बहुवचन अपने सारे साथियों के अभिप्राय से है।

‡ क्षत्रिय बन्धु=वह जिसके बन्धु क्षत्रिय हैं, जो क्षत्रियों में रहा सहा और पला है, उससे एक ब्राह्मणवंशी का विद्या के विषय में पराजित होना एक बहुत बड़ी त्रुटि जानकर श्वेतकेतु ने बन्धु (क्षत्रबन्धु) शब्द का प्रयोग किया है।

(पिता ने कहा) "वह कौन से हैं" ।

"यह हैं" इतना कहकर उसने उनकी प्रतीकें बोलदीं ।

उद्दालक का प्रवाहण के पास जाकर इस विद्या का सीखना ।

स होवाच 'तथानस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किञ्च वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं, प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव' इति । 'भवानेवगच्छत्विति' । स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास । तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयाञ्चकार । अथ हास्मा अर्घ्यं चकार । तꣳ होवाच 'वरं भगवते गौतमाय दद्म' इति ॥ ४ ॥

उसने कहा "बेटा ! तुम हमें ऐसा जानो, कि जो कुछ मैं जानता था, वह सब तुझे बतला दिया है । पर चलो वहां वापिस जाकर हम दोनों ब्रह्मचर्यवास करें" ।

(पुत्र ने उत्तर दिया) "आप ही जावें" ।

तब गौतम (गोतम गोत्री उद्दालक) वहां आया जहां जैवलप्रवाहण (का स्थान) था ।

(प्रवाहण ने) उसके लिये आसन दिया और जल मंगवाया और तब अर्घ्य (आतिथ्य पूजन) किया,—और उसे कहा "भगवान् गौतम के लिये हम वर* देते हैं" ॥ ४ ॥

---

* अर्थात् जो कुछ आप मांगें, वह आपकी भेंट होगा ।

स होवाच 'प्रतिज्ञातो म एष वरः, यां तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति'।५।

गौतम ने कहा "मेरा प्रतिज्ञा किया हुआ है* यह वर, कि जो बात तुमने कुमार (श्वेतकेतु) के पास कही थी, वही मुझे बतलाओ ॥ ५ ॥

स होवाच 'दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति'। ६ ।

उसने कहा 'वह (वस्तु) दैव वरों में से है, सो तुम (उसको छोड़कर) मानुष वरों (धन पशु आदि) में से कोई कहो। ६।

स होवाच 'विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गोअश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य, मा नो भवान् बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्यो ऽभूदिति' 'स वै गौतम तीर्थेनच्छास इति'। 'उपैम्यहं भवन्त मिति' वाचा हस्मैव पूर्व उपयन्ति, सहोपायानकीर्त्योवास। ७।

---

* अर्थात् मैं घर से ही इस वर के मांगने की प्रतिज्ञा करके आया हूं, सो वही मुझे दीजिये।

उसने कहा 'आपको मालूम है, कि मेरे पास हाथियों की और सोने की, गौओं और घोड़ों की, दासीयों की, बहु मूल्य वस्त्रों और पोशाकों की बहुतायत है। मत आप हमारे लिये बहुत सारे अनल्पतृष्ट और अपर्यन्त (धन) के अधिक ढेर लगाने वाले बनें*'।

(प्रवाहण ने कहा) 'तब गौतम ! तीर्थ से (शिक्षा पाने के रस्ते से) (इस बात की) इच्छा करो'।

(उसने उत्तर दिया) 'मैं (शिष्य के तौर पर आपके) पास आता हूं'। जो बड़े हैं वह वाणी के द्वारा ही पास आते हैं (शिष्य बनते हैं) सो उसने पास आने के कहने मात्र से वास किया†। ७।

---

* जो धन मेरे पास आगे ही अनल्प पड़ा है, यदि उसी धन के और ढेर आप मेरे घर लगाएं, तो उससे मेरा क्या बढ़ेगा, मुझे वह धन दो, जिसका मैं अर्थी हूं।

† "उपैमि" अक्षरार्थ, पास आता हूं। पर यह शब्द शिष्य बनकर गुरु की समीपता लाभ करने में बोला जाता है। उपनयन का अर्थ है, पास लेजाना। उपनयन के समय पहले शिष्य इस नए शिष्य को गुरु के पास लेजाते हैं, इस लिये उसे उपनयन कहते हैं, और शिष्य उनकी शरण पड़कर "उपैमि"=पास आता हूं, बोलता है, और जब वह शब्द बोलता है, तो आचार्य के दोनों चरणों पर अपने दोनों हाथ कुहनियों पर से ऊपर नीचे करके इस रीति पर रखता है,

स होवाच तथानस्त्वं गौतम माऽपराधा-स्तव च पितामहाः, यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिꣳश्चन ब्राह्मण उवास । तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि, को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥ ८ ॥

उसने कहा "इसमें तुम हमें हे गौतम ! दोषी न ठहराओ और न तुम्हारे पुरखा (हमें दोषी ठहराएं), क्योंकि यह विद्या इससे पहले किसी ब्राह्मण के पास नहीं रही है । पर मैं तुझे अब यह विद्या बताऊंगा, कौन तुम्हारे ऐसा कहने पर इन्कार कर सकता है ॥ ८ ॥

जीवात्मा का द्यौ लोक से चन्द्र लोक में आना

असौ वै लोको ऽग्निर्गौतम, तस्यादित्य एव समिद्, रश्मयो धूमो, ऽहरर्चिर्दिशो ऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः । तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति, तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति ।

कि दाएं चरण पर दायां हाथ और बाएं पर बायां आजाता है । पर जब कभी किसी उच्चवर्ण का पुरुष निचले वर्णों का शिष्य बनता है, तो केवल "उपैमि" कहता है, चरण नहीं पकड़ता, सो ऐसे ही गौतम ने भी किया ।

* यह लोक (द्यौलोक) हे गौतम ! अग्नि है, सूर्य उसकी समिधा है, किरणें धूम (धुआं) है, दिन लाट है, दिशाएं अङ्गारे हैं, अवान्तर दिशाएं (कोणें) चिङ्गाड़ियां हैं,†

---

* पांचों प्रश्नों में से चौथे प्रश्न का निर्णय पहले करते हैं, क्योंकि और सारे प्रश्नों का निर्णय इस प्रश्न के निर्णय के अधीन है।

† शतपथ ब्राह्मण में यह वर्णन है, कि अग्निहोत्र के विषय में जनक ने याज्ञवल्क्य से छः प्रश्न पूछे थे (१) यह कि दोनों (अर्थात् सायं प्रातः की) आहुतियाँ किस तरह इस लोक से ऊपर उठती हैं ? (२) किस तरह आगे जाती हैं ? (३) कहां ठहरती हैं ? (४) क्या वहां फल देती हैं ? (५) किस तरह फिर इस लोक की ओर लौटती हैं ? (६) और इस लोक में आकर फिर कैसे उठती हैं ?

इन प्रश्नों में अग्निहोत्र का वह साधारण फल नहीं पूछा गया, जो इसी लोक और इसी जीवन में मिल जाता है, अर्थात् (१) जो होमा हुआ द्रव्य अग्नि से छिन्न भिन्न होकर ऊपर उठता है (२) और वह आकाश में आगे को जाता हुआ (३) ऊंचा जा ठहरता है (४) वहां वह वायु और उसमें के जल को स्वच्छ और पुष्ट करता है (५) मेघ के रूप में प्रकट होकर बूँदों के रूप में नीचे उतरता है (६) और ओषधि वनस्पतियों के रूप में फिर इस लोक में उठता है।

किन्तु अग्निहोत्र का यहां वह असाधारण फल पूछा गया है, जो यजमान को इस शरीर के पीछे परलोक में जाकर

मिलता है, अभिप्राय यह है, कि होम की हुई आहुतियें जिस तरह एक अत्यन्त सूक्ष्म रूप धारण करके आकाश में प्रवेश करती हैं, उसी तरह एक दूसरा और भी सूक्ष्म रूप धार करके आहुति देने वाले के अन्तःकरण में प्रवेश करती हैं। यह रूप वह है. जो श्रद्धा से यथाविधि आहुति देते समय एक आस्तिक पुरुष के चित्त पर उस कर्म के शुभ संस्कार पड़ते हैं, इन्हीं संस्कारों को वासना, अपूर्व और अदृष्ट भी कहते हैं। यही वह धर्म है जो मरने के पीछे मनुष्य के साथ जाता है, जिसके विषय में यह कहा है :—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः (मनु० ४ । २३९)

वहां सहायता के लिए पिता माता खड़े नहीं होते। न पुत्र और स्त्री, न बन्धु बांधव, केवल धर्म खड़ा होता है।

अब आहुतियों के दो रूप बन गए, एक जो सूक्ष्मरूप से आकाश में प्रवेश करता है, और दूसरा जो संस्कार रूप से अन्तःकरण में। इनमें से आकाश सबका सांझा है, इस लिये आकाश में प्रविष्ट हुई आहुतियें सबके लिये सांझा फल उत्पन्न करती हैं. अर्थात् वृष्टि। पर अन्तःकरण अपना २ अलग है, सो उसमें प्रविष्ट हुई आहुतियें (संस्कार) उसी के परलोक और पर जन्म को संवारती है, जो उनका देने वाला है। यह आहुतियें किस तरह उसके परलोक और पर जन्म को संवारती हैं; उसके लिये यह छः प्रश्न हैं। अर्थात् दी हुई आहुतियें जो संस्कार रूप से यजमान के चित्त में

स्थित हैं, वह मरने के पीछे किस तरह ऊपर उठती हैं इत्यादि। वहां जो उत्तर दिये हैं, उनका सारांश यह है। यह सूक्ष्म रूप (वासनारूप) आहुतियें सूक्ष्म शरीर (जो परलोक में यजमान के साथ जाता है) को लपेटे हुए उसके साथ ऊपर उठता है, जब वह इस लोक से ऊपर उठता है । फिर वह यजमान अन्तरिक्ष में प्रवेश करता है, तो वह उसके साथ अन्तरिक्ष में प्रवेश करती हैं, यहां वह अन्तरिक्ष को आहव-नीय (अग्नि) बना लेती हैं और वायु को समिधा इत्यादि। वहां वह अन्तरिक्ष में रहकर यजमान को तृप्त करती हैं, फिर जब यजमान अन्तरिक्ष से ऊपर द्यौलोक में जाता है, तो वह उसके साथ द्यौलोक में जाती हैं, यहां वह द्यौलोक को आ-हवनीय बनाती हैं (इत्यादि)। और फल देकर यजमान को तृप्त करती हैं। फिर वहां फल भोग कर यजमान पृथिवी की ओर लौटता है, और यहां आकर जन्म ग्रहण करता है, इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में इनके सविस्तर उत्तर दिये गए हैं।

सो यह यजमान द्यौलोक से जिस प्रकार लौटता है और जो २ रूप बनता चला आता है, यहां इस प्रकरण में उस का वर्णन है। यहां भी उसी तरह अग्निहोत्र की ही कल्पना की गई है जैसाकि 'यह लोक हे गौतम। अग्नि है' इत्यादि। यहां द्यौलोक से उतरने से आरम्भ करके मनुष्य जन्म लेने तक पांच अग्नियों की कल्पना की गई है, यही पञ्चाग्नि विद्या कहलाती है।

इस (ऊपर की) अग्नि में देवता श्रद्धा* को होमते हैं, उस आहुति का राजा सोम† (चन्द्र) बन जाता है ॥ ६ ॥

चन्द्रलोक से मेघ में उतर कर वृष्टि में प्रवेश } पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम ! तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमा विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फु-

---

* यहां श्रद्धा से अभिप्राय वह आहुतियें हैं, जो यजमान ने पहले अग्नि में होमी हुई हैं और अब वासनारूप में यजमान के साथ हैं। यह आहुतियें होम के समय द्रवमय (घी दूध आदि) वा द्रवप्रधान होती हैं, इस लिए इनको जल मान कर यह प्रश्न (बृह० ६ । २) किया गया है कि कितवीं आहुति के होम किये जाने पर जल मानुषी वाणी वाले बनकर उठकर फिर बोलने लगते हैं, यह वही होम के जल (द्रव) अब श्रद्धारूप हैं (क्योंकि श्रद्धा के बल से वह इस रूप में आए हैं) क्योंकि श्रद्धा से किया हुआ ही होम धर्म की वासना उत्पन्न करता है, खाली होम नहीं। इसीलिये कहा है, "श्रद्धया ऽग्निः समिध्यते श्रद्धयाहूयते हविः" (ऋग् १०) श्रद्धा से अग्नि जलाई जाती है और श्रद्धा से हवि होमी जाती है। सो वासनामय आहुतियें श्रद्धा का फल हैं, इसलिये श्रद्धारूप कही हैं। जो यहां पहली आहुति की वस्तु हैं। श्रद्धा से जल अभिप्रेत हैं, इस पर देखो वेदान्त३।१।५.

† वह श्रद्धा चन्द्रलोक में उतर कर अब जिस रूप में परिणत होती है, वह सोम की प्रकृति वाला सोम कहलाता है।

लिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳराजानं जुह्वति, तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति ॥१०॥

मेघ हे गौतम! अग्नि है, बरस उसकी समिधा है, अभ्र (धुंध) धूम है, बिजली लाट है, वज्र अङ्गारे हैं, (बिजली की) कड़कें चिङ्गाड़ियां हैं। इस अग्नि में देवता सोम राजा का होम करते हैं, उस आहुति की वृष्टि बनती है*।

वृष्टि द्वारा पृथिवी पर उतर कर अन्न में प्रवेश।

अयं वै लोको ऽग्निर्गौतम! तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः वृष्टिं जुह्वति, तस्या आहुत्या अन्नꣳसंभवति ॥११॥

यह लोक† हे गौतम! अग्नि है, पृथिवी उसकी समिधा

---

* अर्थात् वही श्रद्धानामी जल जो पहले परिणाम में सोमरूप हुए थे, अब इस दूसरे परिवर्तन में मेघ में उतर कर वृष्टिरूप में परिणत हुए हैं।

† यहां "यह लोक" और "पृथिवी" इन दोनों में भेद किया है, पृथिवी से केवल गोला अभिप्रेत है, और "यह लोक" से इस पर का सारा जीवन्त जगत्। छान्दोग्य ५।६।१ में यह भेद नहीं किया है।

है, अग्नि धूम है, रात्रि लाट है, चन्द्रमा अङ्गारे हैं, नक्षत्र चिङ्गाड़ियां हैं। इस अग्नि में देवता वृष्टि को होमते हैं, उस आहुति का अन्न बनता है (वह आहुति अब अन्न के रूप में बदलती है) ॥ ११ ॥

अन्न द्वारा पुरुष में प्रविष्ट होकर रेतस् (बीज) में प्रवेश।

पुरुषो वा अग्निर्गौतम ! तस्य व्यात्तमेव समित् प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति, तस्या आहुत्यै रेतः संभवति ॥ १२ ॥

पुरुष हे गौतम ! अग्नि है, खुला मुंह उसकी समिधा है, सांस धूम है, वाणी लाट है, आंख अङ्गारे हैं, कान चिङ्गाड़ियां हैं, इस अग्नि में देवता* अन्न का होम करते हैं, उस आहुति का वीर्य बनता है ॥ १२ ॥

रेतस् द्वारा स्त्री में प्रविष्ट होकर पुरुष के रूप में प्रकट होना।

योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति ते ऽङ्गारा अभि-

---

* यहां देवता, प्राण (इन्द्रिय हैं) अधिदैवत में जो इन्द्र आदि देवता (शक्तियां) हैं, वही अध्यात्म में प्राण आदि हैं।

नन्दा विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति। तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति। स जीवति यावज्जीवति। अथ यदा म्रियते॥१३॥

स्त्री हे गौतम! अग्नि है*..................इस अग्नि में देवता वीर्य को होमते हैं उस आहुति का पुरुष बनता है†। वह जीता है, जब तक जीता है, फिर जब वह मर जाता है॥

मृत्यु के पीछे अन्त्येष्टि संस्कार। } अथैनमग्नये हरन्ति। तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरंगारा अंगारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिंगाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति। तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः संभवति॥ १४॥

---

* शेष अर्थ मूल से देखो।

† यह चौथे प्रश्न का उत्तर दिया गया, कि आहुति के जल (वासनाएं) जो द्यौ में श्रद्धारूप से वर्तमान थे, उनकी आहुति होकर सोम, सोम की आहुति होकर वृष्टि, वृष्टि की आहुति होकर अन्न, अन्न की आहुति होकर वीर्य्य और वीर्य्य की आहुति होकर पुरुष के रूप में फिर वापिस आगए।

तब वह इसको (मृतक को) (चिता की) अग्नि के लिये लेजाते हैं, तब (वास्तव) अग्नि ही इसकी अग्नि होती है, समिधा समिधा, धूम धूम, लाट लाट, अङ्गारे अङ्गारे, चिङ्गाड़ियां चिङ्गाड़ियां, (होती हैं*) इस (चिता की) अग्नि में देवता पुरुष को होमते हैं, उस आहुति से पुरुष (सूक्ष्मदेह) चमकते हुए रंग वाला बनता है ॥ १५ ॥

देवयान मार्ग का वर्णन । } ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाँसत्यमुपासते, तेऽर्चिरभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरन्ह आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति, मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतम् । तान्वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्म-

---

* पहले पांचों खण्डों (९–१३) में जो अग्नियें बतलाई हैं, अर्थात् द्यौ, मेघ, पृथिवी, पुरुष और स्त्री, यह वस्तुतः अग्नियें नहीं, किन्तु इनको अग्नि कल्पना किया गया है, परन्तु यहां (१४ में) वस्तुतः अग्नि है, और समिधा आदि भी वास्तव में हैं। पर पञ्चाग्नि विद्या में वह पहली पांचों अग्नियें ली गई हैं, जो यजमान को द्यौलोक से उतार कर पृथिवी पर फिर जन्म देने का हेतु हैं। यह चिता की अग्नि फिर द्यौलोक की ओर लेजाने का हेतु है जिसका कि आगे वर्णन है।

लोकान् गमयति, ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परा वतो वसन्ति, तेषां न पुनरावृत्तिः। १५।

अब वह जो इस प्रकार इस (रहस्य) को जानते हैं वह चाहे (गृहस्थ) भी हों, और (दूसरे) वह (लोग) जो जंगल में श्रद्धा के साथ सत्य (हिरण्यगर्भ) को उपासते हैं*, वह पहले अर्चि (अग्नि की लाट) को प्राप्त होते हैं, अर्चि से दिन को, दिन से शुक्लपक्ष (चांदने पक्ष) को, शुक्लपक्ष से, उन छः महीनों को, जिनमें सूर्य उत्तर को जाता है (अर्थात् उत्तरायण को), महीनों से देवलोक को, देवलोक से सूर्य को, सूर्य से बिजली के स्थानों को, वहां उन विद्युत् वालियों के पास अब एक मानस पुरुष† आता है, वह उनको ब्रह्मलोकों‡ में लेजाता है। वह उन ब्रह्मलोकों में

---

* वानप्रस्थ और वे सन्यासी जिन्होंने अभी तक शुद्ध ब्रह्म को साक्षात् नहीं किया है, किन्तु हिरण्यगर्भ के ही उपासक हैं।

† ब्रह्मलोक वासी वह पुरुष जो ब्रह्मा ने मन से अर्थात् संकल्पमात्र से रचा है (शंकराचार्य्य)।

छान्दोग्य (५।१०।२) का यह पाठ है "तत्पुरुषोऽमानवः, स एनान् ब्रह्म गमयति"=वहां एक पुरुष है, जो अमानव है (मानुषी सृष्टि का नहीं है) वह इनको ब्रह्म (शबल ब्रह्म=हिरण्यगर्भ) को पहुंचा देता है।

‡ ब्रह्मलोक, ब्रह्मा के लोक (न कि ब्रह्मरूप लोक)

(लम्बी आयु वाले ब्रह्मा के) लम्बे बरस बसते हैं, उनकी पुनरावृत्ति (वापिस लौटना) नहीं है* ॥ १५ ॥

पितृयाण मार्ग का वर्णन और दोनों मार्गों से भ्रष्ट लोगों की गति। } अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति, ते धूममभिसम्भवन्ति, धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद् यान् षण्मासान् दक्षिणाऽऽदित्य एति, मासेभ्यः पितृलोकं, पितृलोकाच्चन्द्रं, ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति । ताꣳस्तत्र देवा यथा सोमꣳ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाꣳस्तत्र भक्षयन्ति, तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्ते, आकाशा-

---

यहां ब्रह्म से शुद्ध ब्रह्म अभिप्रेत नहीं, किन्तु शबल ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ से अभिप्राय है, इसीलिये ,'ब्रह्मलोकेषु" बहुवचन है, क्योंकि शबल के लोक जो मुक्त के लिये भोगस्थान हैं, वह बहुत हैं। शुद्ध, बाहर के सम्बन्ध से रहित, स्वयं उसका स्वरूप है और वह एक है।

* अर्थात् जितनी बड़ी ब्रह्मा की आयु है, उतनी देर यह ब्रह्मा के लोकों में रहते हैं, कर्मियों की तरह वह यहां वापिस नहीं आते। कर्मियों की पुनरावृत्ति आगे दिखलाएंगे हैं।

द्वायुं, वायोर्वृष्टिं, वृष्टेः पृथिवीं, ते पृथिव्यां प्राप्यान्नं भवन्ति, ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते, ततो योषाग्नौ जायन्ते, लोकान् प्रत्युत्थायिनः, त एवमेवानुपरिवर्तन्ते। अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्।

पर वे जो यज्ञ, दान और तप के द्वारा लोकों को जीतते हैं, (अपने भविष्यत् को सुधारते हैं) वे धूम को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से उन छः महीनों को, जिन में सूर्य्य दक्षिण को जाता है, महीनों से पितृलोक को, पितृलोक से चन्द्र को, वह चन्द्र को प्राप्त होकर अन्न बन जाते हैं, वहां उनको देवता खाते हैं* (उप-

---

* छान्दोग्य ५।४ में यह पाठ है—"एष सोमो राजा तद् देवानामन्नं, तं देवा भक्षयन्ति"="यह सोम राजा है, वह देवताओं का अन्न है, उसको देवता भक्षण करते हैं" पर यह ध्यान रखना चाहिये, कि उपनिषदों में "भक्ष" केवल खाने, और "अन्न" केवल अनाज के अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं हुआ, किन्तु "भक्ष" भोगने वा प्यार करने के अर्थ में, "अन्न" प्यारी, चाही हुई, सुख देने वाली, वा रक्षा करने वाली हर एक वस्तु के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। सो यहां यह तात्पर्य है, कि वह देवताओं का प्यारा बन जाता है और देवता उसे

प्यार करते हैं। शंकराचार्य भी इसी आशय को प्रकट करते हुए लिखते हैं, कि यदि कर्मी जन चन्द्रलोक में पहुंच कर देवताओं का अन्न बन जाते हैं, और उन्हें देवता भक्षण करते हैं, तो उनके शुभ कर्मों का फल उन्हें क्या मिला? इसलिए वह वस्तुतः खाए नहीं जाते, किन्तु अन्न के अर्थ हैं, जिससे रक्षा होती है, वा जिससे सुख मिलता है। सो इसका यह तात्पर्य नहीं, कि वह देवताओं से खाए जाते हैं, किन्तु यह, कि देवताओं के आनन्द का हेतु बनते हैं। और यह वचन इसी तरह है, जैसा यह कहा जाता है, कि प्रजा, स्त्री और पशु राजाओं का अन्न हैं, अर्थात् उनके भोग वा सुख का साधन हैं, और यह सुख परस्पर एक दूसरे को होता है। नौकर मालिक के सुख भोग का साधन हैं, और मालिक नौकरों के सुखभोग का साधन है। पुरुष स्त्री को प्यार करता है, और उससे प्यार किया जाता है, वे परस्पर एक दूसरे को प्यार करते हैं, एक दूसरे के सुख का हेतु हैं। इसी प्रकार वे कर्मीजन देवताओं से प्यार किये जाते हैं, अर्थात् वे देवताओं के साथ सुख और आनन्द भोगते हैं, उनका शरीर उस आनन्द के योग्य बन जाता है, अर्थात् केवल कर्मी जब मरता है और जलाया जाता है, तो उसका सूक्ष्मशरीर उस के कर्मों के संस्कारों को लेकर धूम के साथ ऊपर उठता है, और वह संस्कार उसे सोम को लेजाते हैं जहां वह अपने कर्मों का फल भोगता है, यहां वह जिस शरीर के साथ फल भोगता है उसे सोम राजा कहा है। जब उसके कर्म समाप्त

भोग करते हैं) जैसे (सोमयज्ञ में ऋत्विज्) सोम राजा को वार २ पूर्ण करते हुए और घटाते हुए (उपभोग करते हैं) उनका वह (कर्म, जो उन्होंने इस लोक में चन्द्रलोक की प्राप्ति के लिये किया है) जब क्षीण हो जाता है, तो वे फिर इसी आकाश की ओर वापिस आते हैं, आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को, वृष्टि से पृथिवी को। और जब वह पृथिवी पर पहुंचते हैं, तो वह अन्न बन जाते हैं, वह फिर पुरुष रूपी अग्नि में होम किये जाते हैं, उससे फिर वह स्त्री रूपी अग्नि में उत्पन्न होते हैं, वह इन लोकों की ओर उठते हैं (जन्म ग्रहण करते हैं)। वह इसी प्रकार वार २ चक्र लगाते हैं।

और वह जो इन दोनों मार्गों को नहीं जानते, वे कीड़े पतङ्गे और जो कुछ मक्खी मच्छर है, यह बनते हैं* ।

हो जाते हैं, तो वह फिर वापिस आता है, और नया जन्म ग्रहण करता है।

* यहां तक पांचों प्रश्नों के उत्तर देदिये गए हैं, (१) क्या तू जानता है, कि ये लोग जब मरते हैं, तो वे किस तरह अलग २ होते हैं (अलग २ रस्ता लेते हैं) ? इसका उत्तर (१५, १६ खण्ड में) यह दिया है, कि दाह संस्कार से पीछे एक तो अर्चि आदि का रास्ता लेते हैं, और दूसरे धूम आदि का और तीसरे इन दोनों मार्गों से वञ्चित रहकर यहीं वार २ जन्मते हैं और यह भेद उनकी कमाई से होता है। उपासना वाले ब्रह्मलोक का रस्ता लेते हैं, कर्मकाण्डी चन्द्र-लोक का, और उभयभ्रष्ट दोनों से वञ्चित होकर क्षुद्रयोनियों

दोनों मार्गों से भिन्न दो गतियां और हैं।

सो यहां मरने के पीछे तीन गतियां बतलाई हैं, एक उपासकों की देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक को दूसरी कर्मियों की पितृयाण मार्ग से चन्द्रलोक को, तीसरी उभयभ्रष्टों की, जो अपने नीच कर्मों से क्षुद्रयोनियों में जाते हैं। पर याद रखना चाहिये, कि यहां तीसरी जगह

में जाते हैं। (२) दूसरे प्रश्न—"क्या तू जानता है, कि किस तरह वह फिर इस लोक में आते हैं"—का उत्तर (१६ खण्ड में) यह दिया है, कि जब उनका पुण्य क्षीण हो जाता है, तो वे आकाश वायु आदि में से होकर नीचे उतरते हुए पुरुष स्त्री के द्वारा फिर इस लोक में जन्म लेते हैं। (३) तीसरे प्रश्न "कि इस प्रकार बार २ जाते हुए लोगों से क्यों वह लोक भर नहीं जाता" का उत्तर (१६ में) यह दिया है, कि बहुत से तो उस लोक में पहुंचते ही नहीं, और जो पहुंचते हैं वे अपने कर्म भोग २ कर वापिस आते रहते हैं (४) चौथे प्रश्न 'कितवीं आहुति के होमे जाने पर जल पुरुष की वाणी वाले बनकर उठते हैं, और बोलते हैं' का उत्तर (९-१३ खण्ड में) यह दिया है, कि पांचवीं आहुति में जल पुरुष के रूप में आ जाते हैं (५) पांचवें प्रश्न "क्या कुछ करने से देवयान और पितृयाण मार्ग को जाते हैं" का उत्तर यह दिया है कि जो बन में जाकर श्रद्धा पूर्वक हिरण्यगर्भ (अपरब्रह्म) की उपासना करते रहे हैं वे वानप्रस्थ या संन्यासी भी जिन्होंने अभी तक शुद्ध ब्रह्म को साक्षात् नहीं किया है, वे सब उत्तर

पर उन्हीं का वर्णन है, जो केवल पाप में रत हैं, यह वर्णन उनका नहीं है, जो न केवल पुण्यात्मा है, और न केवल

मार्ग को जाते हैं, और गृहस्थों में से वे लोग, जो इस पञ्चाग्नि विद्या के रहस्य को और पांच अग्नियों के द्वारा अपने जन्म को जानते हैं, वे भी उत्तर मार्ग को प्राप्त होते हैं। पर जो गृहस्थ अग्निहोत्र आदि श्रौत कर्मों को या दान देना इत्यादि दूसरे भलाई के कर्मों को ही पूरा करते हैं, वे दक्षिण मार्ग को प्राप्त होते हैं।

इन दोनों मार्गों के विषय में अनेक विचार प्रकट किये गए हैं (१) पहला, वे कौन लोग हैं, जो देवयाण मार्ग से जाते हैं, और वे कौन हैं, जो पितृयाण से जाते हैं? उत्तर— वे गृहस्थ जो साधारणतया यज्ञों को पूरा तो करते हैं, पर उनके असली रहस्य को नहीं जानते, अथवा वे गृहस्थ जो दूसरे नेक काम (दान, तप, में रत हैं, वा कुआं, तालाब विद्यालय, अनाथालय, आदि का स्थापन) करते हैं, वे पितृयाण मार्ग से जाते हैं। पर वे गृहस्थ जो पञ्चाग्नि की विद्या और उनके द्वारा अपने जन्म को जानते हैं, जैसा यहां वर्णन हुआ है, वे देवयान मार्ग से जाते हैं। दूसरे वे लोग, जो गृहस्थ से वन को चले गए हैं, और वहां श्रद्धा और तप में रत हैं, अर्थात् वानप्रस्थ, या वे संन्यासी जिन्होंने अभी तक शुद्ध ब्रह्म को साक्षात् नहीं किया है, वे सारे देवयान मार्ग से जाते हैं। फिर प्रश्न उत्पन्न होता है, कि क्या ब्रह्मचारी

भी देवयान मार्ग से जाते हैं ? इसका उत्तर शङ्कराचार्य्य यह देते हैं, कि "नैष्ठिक ब्रह्मचारियों (जो सारी आयु ब्रह्मचर्याश्रम में रहें) के लिये तो स्मृति और पुराणों में देवयान बतलाया है। और उपकुर्वाणक (जो विद्या पढ़कर गुरु दक्षिणा देकर घर वापिस आते हैं) ब्रह्मचारियों ने दूसरे आश्रमों में प्रवेश की योग्यता लाभ करने के लिये इस आश्रम को धारण किया है, सो उनका यह आश्रम अगले आश्रमों को संवार देता है, बस यही उसका फल है, कोई और स्वतन्त्र पारलौकिक फल नहीं" पर वस्तुतः यह कमाई का फल है, न ब्रह्मचारी के लिये रोक है, न गृहस्थ के लिये। देवयान मार्ग उन सबके लिये है जो शबल ब्रह्म के उपासक हैं । और उनके लिये है, जिनका जीवन उदार है और पुण्यमय है "तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति" (प्रश्न० १ । १६)="उनके लिये वह धूलिरहित ब्रह्मलोक है, जिनमें कुटिलता नहीं, झूठ नहीं, और छल नहीं" ।

दूसरा—यह विचार किया गया है, कि जब चन्द्रलोक में एक पुरुष अपने सारे कर्म्म भोग लेता है, तो वह फिर इस लोक में आकर कैसे जन्म लेता है। जन्म पिछले कर्मों का फल है, जब पिछले सारे कर्म्म समाप्त हो गए, तो फिर नया जन्म कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है, कि वे यज्ञादि कर्म्म जिनका फल चन्द्रलोक में भोगा गया है, उनके सिवाय उसके और भी कर्म्म हैं, वे यह हैं, जो उसका यहां लोगों के साथ बर्ताव रहा है, वे अभी भोगने शेष हैं, और उनके

पापात्मा (उग्रपापी) किन्तु उनका है जिनके कर्म मिले जुले हैं। इसलिये देवयान और पितृयाण इन दोनों मार्गों से

अनुसार वह यहां नया जन्म ग्रहण करता है, जैसाकि छान्दोग्य ५।१०।७ में चन्द्रलोक से आने वालों के विषय में कहा है। "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रियो निं वा वैश्ययोनिंवा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा"। अब वे लोग जिनका कि बर्ताव यहां रमणीय (सुहावना, शुभ) रहा है, वे जल्दी उत्तम जन्म को प्राप्त होंगे ब्राह्मण के जन्म को, वा क्षत्रिय के जन्म को, वा वैश्य के जन्म को। पर वे जो यहां नीच वर्ताव वाले रहे हैं, वे जल्दी नीच योनि को प्राप्त होंगे, कुत्ते की योनि को वा सूअर की योनि को वा चण्डाल की योनि को।

तीसरा—चन्द्रलोक से उतरने के विषय में यह विचार है, छान्दोग्य में कहा है "तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्" "वे वहां (चन्द्रमण्डल में) उतनी देर रहते हैं, जब तक उनके कर्म क्षीण नहीं होते, इस के पीछे वे इसी मार्ग को फिर लौटते हैं, जैसे गए थे" इस वचन से यह प्रकट किया है, कि जिस मार्ग से ऊपर चढ़े थे, उसी से फिर नीचे उतरते हैं। पर जाने में तो महीनों से पितृलोक को और पितृलोक से चन्द्रमा को गए थे (देखो

भिन्न दोही गतियें और कह सकते हैं, एक केवल 'पापियों की जो यहां ही (पृथिवी लोक में ही) क्षुद्रयोनियों में जाते हैं,

---

पृष्ठ २४० से और छान्दो० ५।१०।४) और आने में चन्द्रलोक से आकाश में आकाश से वायु में और वायु से वृष्टि के जल में उतरे हैं (देखो० पृष्ठ २४० से और छान्दो० ५।१०।५) तब "उसी मार्ग को फिर लौटते हैं जैसे गए थे" यह कैसे कहा ? उत्तर यह है कि जाने में तो पृथिवी से चन्द्रलोक को गए थे, अब आने में चन्द्रलोक से पृथिवी को लौटते हैं, सो जो मार्ग ऊपर जाने का था, वही अब नीचे उतरने का है, भेद केवल इतना है, कि जाते समय चन्द्रलोक में जाकर भोग भोगने के योग्य बनने के लिये जिस २ में से होकर जाना आवश्यक है, बस २ में होते हुए जाते हैं, और आते हुए पृथिवी पर जन्म लेने के लिये जिस २ में होते हुए आना आवश्यक है, उस २ में से होते हुए आते हैं, जाते समय चन्द्रलोक में भोग भोगने के लिये यदि कृष्णपक्ष में से होकर जाने की आवश्यकता थी, तो यह आवश्यकता आते समय नहीं रही, हां आते समय अन्न में प्रवेश करने के लिये वृष्टि में से होकर आने की आवश्यकता है, सो बतला ही दिया है। हां जो मनज़ल जाने और आने में सांझी है, वह दोनों में सांझी बतलाई है। जैसे छान्दोग्य (५ । १० । ४) के अनुसार पितृलोक से आकाश में और आकाश से चन्द्रलोक में गए थे (पितृलोकादाकाश-माकाशाच्चन्द्रमसम्) आते समय भी वैसे ही चन्द्रलोक से आकाश में आए हैं।

और दूसरी मिश्रित कर्म वालों की, जो यहां ही फिर मनुष्य के जन्म को ग्रहण करते हैं :—

चौथा—यह विचार है, कि चन्द्रलोक से पृथिवीलोक की ओर वापिस लौटने के विषय में जो छान्दोग्य ५। १० में यह लिखा है "आकाशमाकाशाद्वायुं। वायुर्भूत्वा धूमोभवति, धूमोभूत्वा ऽभ्रंभवति ॥ ५ ॥ अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघोभूत्वा प्रवर्षति" ६। "पहले आकाश को (लौटता है) आकाश से वायु को वायु बनकर वह (यजमान) धूम बनता है, धूम बनकर धुंध बनता है ॥ ५ ॥ धुंध बनकर मेघ बनता है, मेघ बनकर बरसता है"। इसका क्या अभिप्राय है, क्या वह सचमुच ही वायुरूप बन जाता है, धूमरूप, धुँधरूप और मेघरूप बन जाता है, यह अभिप्राय है, अथवा कुछ और अभिप्राय है? उत्तर यह है, कि चन्द्रमण्डल में जो उनका शरीर था, वह अब विलीन होकर आकाश में आकाश की तरह अतिसूक्ष्मरूप होकर उतरता है, इसी प्रकार नीचे उतरता हुआ वायु और धूम आदि में ऐसा मिल जाता है, कि कोई भेद प्रतीत नहीं होता, इस आशय से वायुरूप, धुन्धरूप, और मेघरूप बन जाता है, यह कहा है।

पांचवां—विचार यह है, कि आकाश वायु धुन्ध और वृष्टि में से तद्रूप होकर वे जल्दी २ नीचे उतरते हैं, वा लंबा लम्बा काल इन २ रूपों में रहकर नीचे उतरते हैं? इसका उत्तर यह है, कि थोड़ा २ काल ही इन अवस्थाओं में

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पाप मुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ।

(प्रश्न० ३।७)

ठहर कर मेंह की धाराओं के साथ इस पृथिवी पर आ पड़ते हैं। क्योंकि जब वे मेंह की धाराओं के साथ पृथिवी पर आजाते हैं, तब इसके आगे उनके विषय में यह कहा है—"त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते। अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्" (छान्दो० ५।१०।६) वे यहां (पृथिवी में) धान, जौ, ओषधियें, तिल और माष इत्यादि के रूप में जन्म लेते हैं। यहां से निकलना बड़ा कठिन है"। सो यह कठिनाई अब यहां आकर बतलाई है, पहले नहीं। इससे प्रकट होता है, कि पृथिवी पर उतरने तक में उनको कठिनाई नहीं होती। पीछे जब वे ओषधियों के रूपों में जाते हैं, तो यहां से निकलना उनको कठिन हो जाता है।

छटा—विचार यह है, कि ओषधि आदियों में से निकलने में उनको क्या कठिनाई होती है? इस पर श्री शङ्कराचार्य्य लिखते हैं, कि जब वे मेघ द्वारा नीचे उतरते हैं, और धान, जौ, ओषधि, वनस्पति, तिल, माष आदि में से पार होकर जन्म ग्रहण करते हैं, इस अन्तर में उनके लिये बहुत कठिनाइयां हैं। सब से पहिली यह है, कि मेघ के बरसने के सहस्रों स्थान हैं, यदि यह मेंह के साथ पर्वत की चोटी पर

अब उदान जो ऊपर को जाने वाला है, वह एक (नाड़ी, सुषुम्णा) के द्वारा पुण्य से पुण्य लोक (देवलोक

बरसे, और वहां से नीचे ढलकर नदी में बहते हुए समुद्र में जा पहुँचे। वा किसी मछली अथवा अन्य समुद्रिय जन्तु ने खालिया, और वे वहां ही जब उस जन्तु के साथ समुद्र में विलीन हुए, तब समुद्र के जलों के साथ आकाश में खींचे गए, (सो यह उनका एक बार का पृथिवी पर उतरना तो निष्फल ही चला गया) फिर मेंह की धाराओं के साथ मरुभूमि (रेगस्तान) में वा पत्थरों पर पड़े रहे। यहां वह कदाचित् व्याल और हिरण आदि से पिये गए, उनको किसी दूसरे जन्तु ने खालिया, और उसको फिर किसी दूसरे ने। इस प्रकार वह एक लम्बे चक्र में पड़ जाते हैं। अब जब वह इन ओषधि वनस्पतियों में आते हैं, तो उन पहली कठिनाइयों से निकल आते हैं, और नई कठिनाइयों में पड़ते हैं। कदाचित् उन पौधों में आए, जो किसी ने नहीं खाए और सूख गए। कदाचित उन स्थावरों में आए, जो खाए गए हैं, तथापि यदि वह बच्चों से वा बूढ़ों से खाए गए, वा उनसे खाए गए, जो गृहस्थ नहीं, तो इस तरह यह अवसर भी वह अपने नए जन्म का खो देते हैं। यदि किसी युवक गृहस्थ से खाए गए, पर वह वन्ध्यवीर्य्य है, वा स्त्री बन्ध्या है, तो फिर उनका जन्म लेने का यह अवसर भी चूक जाता है, फिर जब कभी जाकर वह समर्थ पुरुष से खाए जाते हैं, और समर्थ माता की कुक्षि में जाते हैं, तब वह नया जन्म ग्रहण करते हैं वैसा जन्म, जैसे

वा पितृलोक) को लेजाता है, पाप से पाप लोक को (पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, और स्थावरों के जन्म को) और दोनों (मिले हुए पुण्य पाप) से मनुष्यलोक को (लेजाता है)।

पिता के शरीर में गए हैं, और यह उनका जाना कर्मानुसार होता है, इसमें कुछ उलट पलट नहीं होता।

सातवां—विचार—यह कठिनाइयां उन्हीं के लिये हैं,जो चन्द्रमण्डल से उतरे हैं, और स्थावरों (घास वा पौधों) के जन्मों में नहीं जाएंगे। हां जो पापीजन इस योग्य हैं, कि वह स्थावर जन्मों में डाले जाएं, वे शीघ्र अपने कर्मानुसार स्थावर जन्मों में चले जाते हैं। पर यह जो चन्द्रमण्डल से उतर कर स्थावरों में से होकर आए हैं, उनके लिये स्थावरों में जाना उनके किसी कर्म का फल नहीं, किन्तु आगे जो उनका ब्राह्मण आदि का जन्म कहना है, उसमें जाने के लिये यह उनका मार्ग है। इसीलिये वे उन स्थावरों में आकर कोई सुख दुःख नहीं भोगते। क्योंकि स्थावर उनका शरीर नहीं होता, किन्तु वे जैसे पहले आकाश, धुएँ, धुन्ध और मेघ में मिल गए थे, ऐसे ही अब स्थावरों में मिल जाते हैं। और इसीलिये उन अनाजों के कूटने पीसने से वे उनसे निकल नहीं जाते, जब कि वे जीव उस समय उनसे निकल जाते हैं, जिनका कि वह देह हैं। किन्तु यह उस अनाज में ही रहकर खुराक के द्वारा उनके अन्दर पहुँचते हैं, जिनके हां उन्होंने जन्म ग्रहण करना है। इसीलिये "य इह रमणीय-चरणा....कपूयचरणा...." शुद्ध वर्ताव वाले......और मैले

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनु संयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।
(कठ० ५।७)

वर्ताव वाले......इत्यादि से ब्राह्मण आदि का जन्म ग्रहण करने में कर्मों का सम्बन्ध बतलाया है, इससे पूर्व नहीं, क्योंकि इससे पूर्व (धान आदि में जाना) उनका रस्ता है, न कि कर्मानुसार जन्म। यहां यह अभिप्राय नहीं, कि स्थावर जीवयोनि (उपभोग का स्थान) नहीं, बेशक यह उनका उपभोग स्थान हैं, जो पाप का फल भोगने के लिये स्थावर बने हैं, किन्तु चन्द्रमण्डल से उतरने वालों का यह उपभोग स्थान नहीं है।

सातवां विचार यह है, कि चन्द्र मण्डल में वह भोग भोगने के लिये गए हैं, इसलिये वहां तो उनको ज्ञान होता है, और यह प्रश्नोपनिषद् (५।४) में स्पष्ट लिखा है, कि "स सोमलोके विभूति मनुभूय पुनरावर्तते" वह चन्द्रलोक में ऐश्वर्य्य को अनुभव करके वापिस लौटता है। पर जब वे नीचे उतरते हैं, तो ज्ञान से शून्य (बेखबर) रहते हैं, जब तक कि उनको फिर मानुष जन्म देकर ब्रह्म को पहुंचने के योग्य बना दिया जाता है।

आठवां विचार यह है, कि इन मार्गों के वर्णन में उपनिषदों के अन्दर भेद क्यों पाया जाता है? इसका उत्तर यह है, कि भेद होने पर भी विरोध कोई नहीं, किसी जगह किसी

एक प्रसिद्ध बात का ही वर्णन है, और किसी जगह सविस्तर वर्णन है। प्रश्नोपनिषद् (१ । ९, १०; ५ । ४-५) में पितृयाण से चन्द्रलोक की प्राप्ति और देवयान से सूर्य्यलोक को जीतने का ही वर्णन है। मार्ग नहीं बतलाया। मुण्डक (१ । २ । ११) में भी "सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा" वे निर्मल हुए सूर्य्य के द्वार से वहां पहुंचते हैं, जहां वह अव्यय स्वरूप अमृत पुरुष है" । इसमें देवयान द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति का वर्णन है। मार्ग का नहीं । छान्दोग्य और बृहदारण्यक में मार्ग का भी सविस्तर वर्णन है। हां देवयान मार्ग का अर्चि, दिन शुक्लपक्ष और उत्तरायण तक तो दोनों में एक समान वर्णन है। पर छान्दोग्य में उत्तरायण से आगे वरस और उसके आगे आदित्य का वर्णन है । और बृहदारण्यक में उत्तरायण से आगे देवलोक और उससे आगे आदित्य का वर्णन है। छान्दोग्य में देवलोक छोड़ दिया है और बृहदारण्यक में बरस को छोड़ दिया है । व्यवस्था यह है, कि उत्तरायण से बरस को, बरस से देवलोक को, और देवलोक से आदित्य को जाता है। इससे उलटा (अर्थात् उत्तरायण से देवलोक, देवलोक से बरस और बरस से आदित्य को जाता है) यह इसलिये नहीं समझा जासकता, कि उत्तरायण काल है, उसके साथ ही बरस का वर्णन आना चाहिये। फिर छान्दोग्य में आदित्य से आगे चन्द्र और चन्द्र से आगे विद्युत् का वर्णन है, बृहदारण्यक में आदित्य के आगे विद्युत् का ही वर्णन है। चन्द्र को छोड़ दिया है। और पितृ-

कुछ देही तो शरीर ग्रहण करने के लिये योनि में प्रवेश करते हैं, दूसरे स्थावर भाव को प्राप्त होते हैं* अपने २ कर्म और ज्ञान के अनुसार।

मरने के पीछे की चार अवस्थाएं।

सो इस प्रकार मरने के पीछे की चार अवस्थाएं बन जाती हैं, एक वे लोग हैं, जिन्होंने मनुष्य का जन्म पाकर अपने आपको नहीं संभाला, और इस जन्म को यूंही गंवा

याण के विषय में छान्दोग्य में पितृलोक से आकाश और आकाश से चन्द्रलोक में जाना लिखा है, बृहदारण्यक के वर्णन में आकाश को छोड़ा हुआ है। और चन्द्र लोक से लौटने के विषय में बृहदारण्यक में वायु के आगे वृष्टि का वर्णन है, और छान्दोग्य में वृष्टि बनने की अवान्तर अवस्थाओं अर्थात् धुआं, धुन्ध, और मेघ का भी वर्णन है। सो यह सारा वर्णन का भेद है, विरोध कोई नहीं।

इनके सिवाय और भी कई विचार हैं, जिनमें से कुछ अगले अध्यायों में आयेंगे और कई एक वेदान्तदर्शन में स्पष्ट किये जायेंगे।

* (छान्दो० ६। २। १ में) प्राणधारियों के तीन बीज कहे हैं, अण्डे से उत्पन्न होने वाले (अण्डज, पशु पक्षी आदि) जेर से उत्पन्न होने वाले (जरायुज, मनुष्य आदि) और पृथिवी को फोड़ कर उत्पन्न होने वाले (उद्भिज्ज, पौधे) उन्हीं तीनों का यहां वर्णन है, अण्डज और जरायुज योनि में प्रवेश करते हैं, और उद्भिज् सारे स्थावर हैं।

दिया है. वे मनुष्यजन्म से नीचे (पशु आदि के जन्म में) गिरा दिये जाते हैं, दूसरे वे लोग हैं, जो न बहुत ऊंचे गए हैं और न बहुत नीचे गिरे हैं, किन्तु मिले जुले व्यवहारों में अपना जीवन बिता गए हैं, वे फिर मनुष्यजन्म को लाभ करते हैं। तीसरे वे लोग हैं, जो इस लोक में नेकी कमागए हैं, वे अपनी कमाई का फल भोगने के लिये चन्द्रलोक में जाते हैं, और वहां उसका फल भोग कर फिर इस लोक में वापिस आते हैं। चौथे वे लोग हैं, जो नेकी के साथ अपने मालिक के प्रेम में भी मग्न हुए हैं, वे मरने के पीछे प्रकाश का रस्ता लेते हैं, और उत्तरोत्तर प्रकाश में प्रवेश करते हुए ब्रह्मलोक में पहुंचकर मुक्त हो जाते हैं, जब कि दूसरे लोग अन्धेरे में जाते हैं, और बस उतने मात्र का फल भोगकर यहीं वापिस आते हैं।

इनसे भिन्न एक पांचवीं अवस्था। } यह चौथे प्रकार के लोग जो प्रेम में मग्न हुए हैं, यदि वह अपरब्रह्म की उपासना करते २ ही, परब्रह्म के साक्षात् दर्शन करने से पहले ही, इस लोक से चल देते हैं, तब वे ब्रह्मलोक में जाकर मुक्त होते हैं, पर यदि वे अपरब्रह्म की उपासना द्वारा क्रमशः परब्रह्म के साक्षात्कार तक जा पहुंचे हैं, तो वे देह को छोड़ते ही मुक्त हो जाते हैं, उनके लिये किसी मार्ग और किसी लोक की अपेक्षा नहीं है।

———:-o-:———

पांचवां अध्याय (कर्म और चरित के वर्णन में)।

कर्म और चरित का भेद। } यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। (तैत्ति० उप० १। ११)

(विद्या पढ़कर घर आते समय शिष्य के प्रति आचार्य का उपदेश) जो कर्म दोष रहित हैं, उनका सेवन करना, मत कभी दूसरों का (दूषित कर्मों का) जो हमारे शुभ चरित हैं, उन पर तूने सदा चलना, मत कभी दूसरों पर (अशुभ चरितों पर)।

इन दोनों का स्वरूप } इस दुनिया में अपनों और बेगानों के साथ जो हमारा बर्ताव है, वह हमारा चरित है, हमारा चरित्र है, हमारा शील है। इसके सिवाय जितने कर्म हैं वे सब कर्म कहलाते हैं। किसी के साथ द्रोह न करना, सब की भलाई में रहना, यह चरित है, और अग्निहोत्र करना वा बगीचा लगवाना इत्यादि कर्म हैं। यद्यपि साधारण बोलचाल में चरित को भी कर्म ही कहते हैं, तथापि सूक्ष्म दृष्टि से इन दोनों में यह भेद किया गया है।

इन दोनों के दो २ रूप और उनका आत्मा पर असर।

यथाकारी यथाचारी, तथा भवति । साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापोभवति । पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन (बृह० उप० ४।४।५)

यह (पुरुष) जैसा करने वाला जैसा चलने वाला होता है,* वैसा बन जाता है । भलाई करने वाला भला बनता है, और बुराई करने वाला बुरा बनता है । पुण्यात्मा पुण्य कर्म से बनता है, और पापात्मा पाप कर्म से ।

चरित भी दो प्रकार का है-भला और बुरा, और कर्म भी दो प्रकार का है, पुण्य और पाप । जो जैसा करता है, वह वैसा बन जाता है, और वैसा ही फल पाता है । यहां कुछ उलट पलट नहीं होता, अपनी कमाई अपने सामने आती है, और अपने जैसा ही फल लाती है—

कलयुग नहीं करयुग† है यह, यहां दिन को दे और रात ले। क्या खूब सौदा नकद है, इस हाथ दे उस हाथ ले।

अन्त भले का भला।

---

* अर्थात् जैसे कर्मवाला और जैसे चरितवाला होता है। भलाई=शुभ चरित, और बुराई=अशुभ चरित।

† कर अर्थात् हाथ। करयुग=हाथ का ज़माना, जिस में जो किया है, वह हाथों हाथ मिलता है।

कर्म के तीन भेद नित्य नैमित्तिक और काम्य।

कर्म जो शास्त्र विहित हैं, उनके तीन भेद हैं, नित्य, नैमित्तिक और काम्य। नित्य-कर्म वे हैं, जो अपने समय पर यथाशक्ति सदा अनुष्ठेय हैं। जैसे स्वाध्याय। इसीलिये स्वाध्याय के विषय में कहा है, कि यदि अधिक न हो सके, तो चाहे एक ही मन्त्र का स्वाध्याय करले, पर नियम को कभी न तोड़े। नैमित्तिक कर्म वे हैं, जो किसी निमित्त के होने पर किये जाते हैं, जैसे पुत्र का जन्म होने पर जातकर्म संस्कार किया जाता है। काम्य कर्म वे हैं, जो किसी कामना से किये जाते हैं, जैसे महत्त्व (बड़ाई) की प्राप्ति के लिये मन्थकर्म (बृह० ६।३।३) कहा है।

नित्य कर्म पञ्चमहायज्ञ और उनके अनुष्ठान में मनुष्य की महिमा।

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः। सयज्जुहोति, यद्यजते, तेन देवानां लोकः; अथ यदनुब्रूते, तेन ऋषीणाम्; अथ यत् पितृभ्यो निपृणाति, यत् प्रजा मिच्छते, तेन पितृणाम्; अथ यन्मनुष्यान् वासयते, यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणाम्; अथ यत् पशुभ्यस्तृणोदकं

विन्दति, तेन पशूनाम्; यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाꣳस्यापिपीलकाभ्य उपजीवन्ति, तेन तेषां लोकः। यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छे देवꣳहैवंविदे सर्वाणि भूतान्यारिष्टिमिच्छन्ति। तद्वा एतद्विदितं मीमाꣳसितम् (बृह० १।४।१६)

किञ्च, यह आत्मा सारे प्राणधारियों का लोक (दुनिया) है* (देवयज्ञ) यह जो होम करता है और यज्ञ करता है, इससे वह देवताओं का लोक है; (स्वाध्याय यज्ञ) जो वेद पढ़ता है, इससे ऋषियों का (लोक) है; (पितृयज्ञ) और जो पितरों के लिये देता है, और सन्तान की इच्छा करता है, इससे वह पितरों का लोक है; (नृयज्ञ) और जो मनुष्यों को वास देता है, और जो इनको भोजन देता है, इस से वह मनुष्यों का (लोक) है; (भूतयज्ञ) और जो पशुओं के लिये चारों ओर से घास पानी लाभ करता है, इससे वह पशुओं का (लोक) है; और जो इसके घर में श्वापद (कुत्ता बिल्ली) पक्षी और चिउंटी तक (जीव जन्तु) उपजीविका पाते हैं, इससे वह इनका (लोक) है। जैसे सब कोई चाहता है, कि

---

* जैसे यह पृथिवी हमारा लोक है, यह हमारे जीवन के लिये उपभोग्य वस्तुएं देती है इसी प्रकार आत्मा सब प्राण-धारियों के लिये अपनी २ उपभोग्य वस्तुओं के देने से (जैसा कि यहां आगे वर्णन है) सब प्राणधारियों का लोक है॥

उसके अपने लोक को हानि न पहुंचे, इसी प्रकार सारे प्राणधारी उसकी हानि नहीं चाहते जो इस (रहस्य) को जानता है। सो यह (विषय) जाना गया है, और इस पर विचार किया गया है* ॥

होम और यज्ञ करना; स्वाध्याय करना; पितरों के लिये श्रद्धा से देना, और सन्तान पैदा करना; अभ्यागतों को वास और भोजन देना; और पशुओं का पालन। यह मनुष्य के नित्यकर्म हैं। यही पञ्चमहायज्ञ वा पञ्चमहासत्र हैं। इन को यथाशक्ति थोड़ा बहुत सदा ही करना चाहिये, कभी इनमें नागा नहीं करना चाहिये। इनमें स्वाध्याय अकेला ही ऐसा उच्च धर्म है, जो मनुष्य को निचले जीवन से उठाकर उदार जीवन में स्थापन कर देता है, हृदय के मैल धोकर उसे शुद्ध बना देता है, शतपथ ब्राह्मण में इसकी महिमा इस प्रकार गाई है—शतपथ ब्राह्मण काण्ड ११ अ० ५० ब्राह्मण ७ ॥

स्वाध्याय यज्ञ की विशेष महिमा।

अथातः स्वाध्याय प्रशंसा। प्रिये स्वाध्याय प्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधीनोऽहरहरर्थान् साधयते सुखꣳ स्वपिति परमचिकित्सक आत्मनो भव-

---

* शतपथ ब्राह्मण के पञ्चमहायज्ञ प्रकरण में इस विषय को लिख आए हैं, और अवदान प्रकरण में इस पर विचार किया है ॥

तीन्द्रियसंयमश्चैकारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशो लोकपक्तिः। प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्यां यशो लोकपक्तिं। लोकः पच्यमानश्चतुर्भि- र्धर्मैर्ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च ॥ १ ॥

अब इसके आगे स्वाध्याय की प्रशंसा (वर्णन की जाती है) स्वाध्याय (स्वयं वेदादि शास्त्रों का पढ़ना) और प्रवचन (पढ़ाना) यह दोनों बड़े प्रिय कर्म हैं। (इनके पालन से मनुष्य) एकाग्र चित्त हो जाता है (उसका चित्त चञ्चल नहीं रहता) पराधीनता से रहित हो जाता है, वह दिन प्रतिदिन अपने प्रयोजनों को साधता है, सुख से सोता है, वह अपना परम चिकित्सक बन जाता है* इन्द्रियों का संयम, सदा एक रस रहना, ज्ञान की वृद्धि, यश, और दूसरे लोगों को निपुण करने का काम (यह सब बातें स्वाध्याय और प्रवचन करने वाले को प्राप्त होती हैं) ज्ञान की वृद्धि होने से यह चार धर्म ब्राह्मण में हो जाते हैं-ब्राह्मणत्व, यथो-

---

* प्रथम तो उसके चित्त में ईर्ष्या असूया आदि रोग उत्पन्न ही नहीं होते, और यदि कथञ्चित हों भी, तो वे उनका इलाज स्वयं कर लेता है ॥

चित आचार, यश और दूसरे लोगों को सुधारना। सुधारने के बदले में यह चार धर्म दूसरे लोगों के ब्राह्मण की ओर हो जाते हैं (१) उसका आदर सत्कार करें (२) उसे दान देकर उसकी आजीविका सम्पादन करें (३) उस पर अत्याचार (ज़ुल्म) न होने दें (४) और उसको अवध्य समझें॥

ये ह वै के च श्रमाः इमे द्यावापृथिवी अन्तरेण, स्वाध्यायो हैव तेषां परमता काष्ठा य एवं विद्वान् स्वाध्याय मधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥ २॥

वह जो इस प्रकार ज्ञान रखता हुआ स्वाध्याय करता है, उस के लिये सचमुच इस द्यौ और पृथिवी के बीच में जितने परिश्रम के काम हैं, स्वाध्याय ही इन सब की परम सीमा है। इसलिये स्वाध्याय नियम से करना चाहिये॥

स्वाध्यायान्मा प्रमदः (तै० १। ११)

स्वाध्याय का कभी त्याग न करो। — स्वाध्याय से मत प्रमाद करो (नित्य के स्वाध्याय को कभी मत भूलो)।

जो स्वाध्याय में प्रमाद करता है, वह अपनी शुभ आय नहीं ले रहा, वह आप अपना उद्धार नहीं कर रहा है। तुम्हारे आस पास की अवस्थाएं और तुम्हारी आवश्यकताएं, तुम्हारे हृदय को क्षुद्र और मलिन बनाना चाहती हैं, यदि

तुम अपने आपको परखते और शोधते नहीं रहोगे, और क्षुद्र भावों को जीतकर उनकी जगह उच्च भावों को स्थापन करने की चेष्टा नहीं करते रहोगे, तो याद रक्खो, किसी तरह फिर अपने आपको संभाले नहीं रख सकोगे, गिर जाओगे और गिरावट में रहना पसंद करलोगे। क्या उन लोगों को नहीं देखते हो, जो अपनी धार्मिक सुध से बेपरवाह होकर दुनिया के धन्धों में लगे हैं, उनका यही हाल है। धन कमा लिया है, पर आत्मा गंवा लिया है, बाहर से साफ और सुथरे हैं, पर अन्दर से मैले और कुथरे हैं। उनके हाथ में रुपया आरहा है, पर वह जाते हुए खाली हाथ जाएंगे, यहां तो उनके पल्ले पुर हो रहे हैं, पर आगे के लिये तो खाली पल्ले भी उनके साथ नहीं हैं। उनकी कमाई उनके लिये नहीं, बेचारे मुफ्त में मर रहे हैं। क्या तुम भी ऐसा बनना चाहते हो। यदि नहीं; तो उन वीर पुरुषों की तरह दुनिया में रहना सीखो, जिनको कोई भी लालच अपने उद्देश्य से नहीं गिरा सकता। जिनके अन्दर की अवस्था एकरस रहती है, यद्यपि बाहर की अवस्थाएं उनके लिये बदलती हैं। ऐसा बनने के लिये तुम्हारे पास बड़ा भारी साधन स्वाध्याय है। यह तुम्हें गिरने से संभालेगा और उदारता के मार्ग पर डालदेगा याद रक्खो—

स्वाध्यायान्माप्रमदः।

स्वाध्याय का परम फल ब्रह्मलोक की प्राप्ति है।

आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभि

समावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्याय मधीयानो धार्मिकान् विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वा भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः। स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, नच पुनरावर्तते, नच पुनरावर्तते।

(छान्दो० ८। १५)

आचार्यकुल में जाकर, गुरु की ओर जो अपना कर्तव्य है, उसको पूरा करता हुआ बाकी समय में यथाविधि वेद को पढ़े। फिर समावर्तन होने के पीछे कुटुम्ब में स्थिर होकर शुद्ध देश में स्वाध्याय करता हुआ और (लोगों को) धार्मिक बनाता हुआ अपने सारे इन्द्रियों को आत्मा में लीन करे और किसी भी प्राणधारी को पीड़ा न दे। सिवाय इसके कि जहां शास्त्र अनुज्ञा देता है। वह जो आयु भर ऐसा बर्तता है, वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और फिर वापिस नहीं आता है, हां वह फिर वापिस नहीं आता है*।

स्वाध्याय की तरह दूसरे भी नित्य कर्म अन्तःकरण को शुद्ध निर्मल बना कर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बना देते हैं।

---

* अर्चि आदि के मार्ग से कार्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर जब तक ब्रह्मलोक की स्थिति है, तब तक वहीं रहता है, उससे पहले (अर्थात् महा प्रलय से पहले) वापिस नहीं आता है, यह अभिप्राय है (शंकराचार्य)।

नैमित्तिक कर्म } संस्कार नैमित्तिक कर्म हैं, बृहदारण्यक की समाप्ति में गर्भाधान और जातकर्म संस्कार का वर्णन है। कोई भी संस्कार हो उसका यह अभिप्राय होता है कि कोई नया गुण इसमें डाल दिया जाय, वा जो कोई उसमें दोष है, उसे दूर कर दिया जाए। मनुष्य के लिये जो संस्कार किये जाते हैं, उनका भी यही अभिप्राय है, जैसा कि भगवान् मनु ने कहा है—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्यचेह च॥
गार्भैर्होमैर्जातकर्म चौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥

(मनु० २।२६, २७)

वैदिक पवित्र कर्मों से द्विजों का गर्भाधान आदि शरीर का संस्कार करना चाहिये जो मरने के पीछे और यहां भी पवित्र करने वाला है। २६। गर्भ सम्बन्धी होम, जातकर्म, चूड़ा कर्म और यज्ञोपवीत, इन संस्कारों से द्विजों का वह दोष दूर हो जाता है, जो बीज से वा गर्भ से (माता पिता से विरसे में) आया है। २७।

पुत्र के उत्पन्न होने पर जो संस्कार करना लिखा है, उसके प्रकरण में यह आया है—

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वा-

गितित्रिरथ दधि मधु घृतꣳसंनीयानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति 'भूस्ते दधामि' भुवस्ते दधामि, स्वस्ते दधामि, भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि' इति (बृह० ६ । ४ । २५)

इसके (होम के) पीछे (पिता अपना मुंह) इस (बच्चे) के दाएं कान के निकट लाकर तीन बार वाक् वाक् (जपता है) फिर दही शहद और घी को मिलाकर शुद्ध सोने की सलाई से चटाता है, (यह कहते हुए) 'भू को तुझ में स्थापन करता हूं, भुवः को तुझ में स्थापन करता हूं, स्वः को तुझ में स्थापन करता हूं । भूर्भुवःस्वः सब तुझ में स्थापन करता हूं' । २५ ।

यहां तीन बार वाक् २ (वाणी २) जपने से यह अभिप्राय है, कि ऋचा यजु और साम यह तीन प्रकार की जो वेदवाणी है, वह तुझ में प्रवेश करे । इसी प्रकार भूः, भुवः, स्वः, से भी ऋचा, यजु और साम यह तीन प्रकार के वेदमन्त्र अभिप्रेत हैं, जैसा कि यहां द्विवेदगङ्ग ने शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या में लिखा है । सो जब पिता खालिस सोने की सलाई से दही शहद और घी चटाता हुआ यह कहता है कि मैं ऋचा, यजु और साम को तुझ में स्थापन करता हूं, तो वह यह प्रकट करता है, कि जीवन में बल पुष्टि और मिठास के भर देने वाली जो तत्त्ववस्तु है, वह वेदत्रयी है, मैं उसको तुझ में स्थापन करता हूं । माध्यन्दिन पाठ में इसी का अभि-

प्राय प्रकट करने के लिये इसके आगे एक और मन्त्र है जो पिता पुत्र के कन्धों को छूता हुआ पढ़ता है ।

अश्माभव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव ।
आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शतम् ।

पत्थर होजा (पत्थर की तरह दृढ़ और सख्त बनजा) कुल्हाड़ा होजा (शत्रुओं के लिये) खालिस सोना बनजा । तू मेरा अपना आप है, पुत्र नाम रखता हुआ, सो तू सौ बरस जीता रह ।

इसके आगे फिर कहा है—

अथास्य नाम करोति 'वेदोऽसि' इति ।
तदस्य तद् गुह्यमेव नाम भवति (बृह० ६।४।२६)

तब पिता इसको नाम देता है 'तू वेद है' सो यह इस का गुह्य नाम होता है ।

'तू वेद है' यह कितने गौरव का वचन है, (पिता कहता है) कि तू वेदों को जानकर और वैदिक जीवन को लाभ करके वेदमय (वेदरूप) बनजा । वह पहले वेदों के नाम को उसके कान में पहुंचाता है, फिर उसके जीवन में है, तब वह जानता है, कि अब तुम वेदरूप होगए । यह अपना अभिप्राय जो पिता ने इस समय प्रकट किया है, इसको वह पूर्ण करके ही अपने कर्तव्य को पूर्ण हुआ समझता है । ऐसे उच्च अभिप्राय जिस जाति में अपनी सन्तान के लिये होते हैं, उस जाति की अवस्था सदा उन्नत होती

रहती है, पिता से पुत्र और पुत्र से पोते बढ़ जाते हैं । इसी लिये इस संस्कार की समाप्ति में कहा है—

तं वा एतमाहुरति पितावता भूरति पितामहो वताभूः परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायते (बृह० ६ । ४ । २८)

वह जो ऐसा जानने वाले (पुत्र की और पिता के पूर्वोक्त कर्तव्य को पालने वाले) ब्राह्मण के पुत्र उत्पन्न होता है, उसको कहते हैं, अहो यह पिता से बढ़कर हुआ है, अहो यह पितामह (दादा) से बढ़कर हुआ है,* अहो ! यह सब से ऊंची पदवी को पहुंचा है†—श्री के द्वारा, यश के द्वारा,

---

* पिता से पुत्र और पुत्र से पोता बढ़कर निकले, यही उन्नतिशील जाति का लक्षण होता है । पिता से पुत्र बढ़कर निकले इसी में पिता की महिमा है ।

सर्वत्र जयमन्विच्छेत् पुत्रादिच्छेत् पराजयम् ।

मनुष्य को चाहिये सब जगह अपनी जीत ढूंढे (किसी से पीछे न रहे सब से आगे बढ़ने की चेष्टा करे) पर हां पुत्र से पराजय की इच्छा करे ।

† जिस साधन के हाथ आजाने से काम के पूरा होने में पूरा निश्चय होता है, वहां भविष्यत् की जगह भूतकाल का

और ब्रह्मवर्चस के द्वारा (अर्थात् ऐश्वर्य, यश और धार्मिक-तेज में यह अपने बड़ों से बढ़कर हुआ है)।

इस प्रकार सारे संस्कार मनुष्य को उन उद्देशों के पूर्ण करने की ओर ले जाते हैं, संस्कारों की तरह और भी नैमित्तिक कर्म हैं।

काम्य कर्म। } काम्य कर्म वह हैं जो किसी कामना से किये जाते हैं, चाहे वह कामना इस लोक सम्बन्धी हो वा परलोक सम्बन्धी।

महत्व की प्राप्ति के लिये मन्थकर्म। } छान्दोग्य ५।२।४—८ में बतलाया है, कि वह पुरुष जो चाहता है, कि मैं दुनिया में महिमा (बड़ाई) लाभ करूं, उसे मन्थकर्म पूरा करना चाहिये, मन्थकर्म की विधि वहां दी गई है। सारे काम्य कर्मों में यह बात पूरे तौर पर पाई जाती है कि जिस कामना के लिये वह कर्म है, उसके पूरा करने की योग्यता मनुष्य में उत्पन्न करदी जाए, वह कर्म अपने अनुष्ठान द्वारा,

---

प्रयोग करते हैं, जैसे किसी पक्के साधन के मिल जाने से कहते हैं, कि बस अब यह काम हो गया। गाड़ी पर सवार हुआ पुरुष कहता है, कि अब मैं पहुँच गया। इसी प्रकार यहां भी 'बढ़कर हुआ है' यह भूतकाल इस निश्चय को जितलाता है, कि अवश्य ही यह बढ़कर होगा। ऐसे ही ऋग्वेद में यह प्रयोग है 'अपाम सोममभृता अभूम' हमने सोम पी लिया है, हम अमृत हो गए हैं।

और उसमें जो चिन्तन हैं उनके द्वारा, उसके चित्त पर वैसे संस्कारों को दृढ़ जमाता है। जैसा इस मन्थकर्म में यह जपमन्त्र है।

अमोनामास्यमा ते सर्वमिदꣳ स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठोराजाऽधिपतिः ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदꣳ सर्वमसानि।

तू हे प्राण अम नाम वाला है, क्योंकि यह सब (सारा जगत्) तेरे साथ है* (तेरे साथ ही सब प्राणधारियों की हस्ती है); वह (प्राण) सबसे बड़ा है, सबसे श्रेष्ठ है, राजा है, अधिपति (स्वतन्त्र मालिक) है। वह मुझे बड़प्पन, श्रेष्ठता, राज्य, और आधिपत्य (स्वतन्त्रता)† को प्राप्त कराए, मैं ही यह सब कुछ हो जाऊं।

फिर इसी कर्म में इस मन्त्र से आचमन करना लिखा है—

तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठꣳ सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि॥

---

* 'अमा' का अर्थ साथ है सारा जगत् प्राण के साथ है; इसलिये प्राण को अम कहते हैं, यह नाम उसकी इस सच्ची महिमा को प्रकट करता है।

† जैसे प्राण इन्द्रियों का स्वतन्त्र राजा है, वैसे हम भी उनके स्वतन्त्र राजा हों, दास न हों।

हम सवितादेव (प्राण) के उस भोजन को पसन्द करते हैं, जो सबसे अच्छा और (शरीर की सारी शक्तियों को) सबसे बढ़कर पुष्टि देने वाला है। हम भग (सविता= प्राण) के वेग को चिन्तन करते हैं (जिस वेग से वह शरीर के अणु २ में जीवन पहुंचाता है)।

पारलौकिक काम्य कर्म } स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।१२। सत्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषिमृत्यो प्रब्रूहि तꣳश्रद्दधानाय मह्यम्।स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण।१३।

(कठ० १)

(नचिकेता यम से दूसरा वर माँगता हुआ कहता है) स्वर्गलोक में कोई भय नहीं है, न वहां तू (मृत्यु) है, और न कोई बुढ़ापे से डरता है। भूख और प्यास इन दोनों से पार होकर और शोक की पहुंच से परे हुआ वह (स्वर्गी) स्वर्गलोक में आनन्द मनाता है।१२। सो तू हे मृत्यो ! अग्नि (यज्ञ) को जानता है, जो स्वर्ग का साधन है; वह मुझे बतलाओ, मैं श्रद्धावान् हूं, जो स्वर्ग में रहते हैं वे अमृत का सेवन करते हैं-यह मैं दूसरे वर से वरता हूं।१३।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा (कठ० १ । १५)

तब यम ने उसे वह अग्नि (यज्ञ) बतलाया, जो लोकों का आदि है और जो ईंटें (अग्नि चयन के लिये आवश्यक हैं) और जितनी (आवश्यक हैं) और वह जिस प्रकार (रक्खी जानी चाहियें, यह सब उसे बतलाया)।

कर्म सारे वेद में बतलाए हैं, और उन पर चलना ही पुण्य की दुनिया का रस्ता है।

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके (मुण्ड० १।२।१)

यह सत्य है, कि ऋषियों ने मन्त्रों में जो कर्म देखे हैं, वे त्रेता (ऋचा, यजु और साम इन तीन प्रकार के मन्त्रों) में अनेक प्रकार से फैले हुए हैं। उनको नियम से आचरण करो, हे सचाई की कामना वालो! यह तुम्हारा रस्ता है, जो पुण्य के लोक में लेजाता है। १।

वैदिक कर्मों के परित्याग से मनुष्य अपने परलोक को खोदेता है

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासम चातुर्मास्य मनाग्रयणमतिथिवर्जितं च । अहुतमवैश्वदेवमविधि-

ना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ।

(मुण्ड० १ । २ । ३)

जिसका अग्निहोत्र बिना दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य और आग्रयण के है, अतिथियों से वर्जित है, बराबर जारी नहीं रहता है बिना वैश्वदेव के है, वा विधि से नहीं किया जाता है, वह उसके सातों लोक नष्ट कर देता है* ।

पारलौकिक कर्मों का लौकिक फल भी होता है ।

पारलौकिक कर्म एक ओर तो मनुष्य के परलोक को सुधारते हैं, दूसरी ओर साथ ही साथ उसके लोक को भी सुधारते रहते हैं। वैदिक अग्निहोत्र से जहां परलोक सुधरता है, वहां वृष्टि और आरोग्यता इस लोक में भी प्राप्त होते हैं । दर्श यज्ञ में तीन गौओं का दूध अलग २ अपेक्षित होता है, जिससे यह सिद्ध

---

* मनुष्य को चाहिये, कि अग्निहोत्र का आरम्भ करे, और फिर उसका अग्निहोत्र बराबर जारी रहे और शास्त्र की विधि के अनुसार हो। अग्निहोत्र वैश्वदेव कर्म से शून्य नहीं होना चाहिये। अग्निहोत्री का घर ऐसा नहीं होना चाहिये, जिसको अतिथियों ने छोड़ा हुआ है। अग्निहोत्री को अपने २ समय पर दर्श आदि यज्ञ भी अवश्य अनुष्ठान करने चाहियें। यदि यह बातें पूरी होती हैं, तो वह इन कर्मों के प्रभाव से सातों लोकों को जीत लेता है, और यदि ऐसा नहीं होता, तो वह इन लोकों को जीत नहीं सकता, मानो उसने अपने सातों लोक जो उसके होने थे खो दिये हैं।

होता है, कि हरएक गृहस्थ के घर में कम से कम तीन गौएं दूध देने वाली सदा रहनी चाहियें। जिस गृहस्थ के घर में तीन गौएं दूध देने वाली हों, उसकी सन्तान अवश्य ही हृष्ट पुष्ट हृष्ट बलिष्ठ नीरोग और दीर्घायु होगी।

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्। भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु (ऋ० ६।२८।६)

हे गौओ! तुम दुबले को भी हृष्ट पुष्ट बना देती हो, कुरूप को भी रूपवान् बना देती हो, हे भली वाणी वालियो! मेरे घरको भद्र (भला, कल्याणयुक्त) बना दो। हमारी सभाओं में तुम्हारी बड़ी शक्ति कही जाती है।

दूध के न मिलने से हमारी बल बुद्धि सब नष्ट हो रही है। पिछले दिनों में जो दूध, दही, और मक्खन गरीबों के लड़कों के भाग्य में था, वह अब अमीरों के लड़कों के भाग्य में भी नहीं है। न घी ही इस बहुतायत से खाया जाता है, और जो खाया जाता है, वह भी प्रायः शुद्ध नहीं मिलता और न ही अब वह पचाने की शक्ति रही है, यह कितनी दुर्दशा हुई है, पर यदि दर्श आदि यज्ञों को तुम निबाहते रहते, तो तीन २ गौएं तुम्हारे घरों में होतीं, उसके साथ ही तुम्हें अपने गाओं और नगरों में चरागाहें रखनी पड़तीं, जैसाकि स्मृतियों में आवश्यक समझा गया है, इससे तुम्हारा स्वास्थ्य, सब प्रकार का बल, और आयु बढ़ती, और तुम्हारी

सन्तान बढ़ती। और जैसाकि तुम अपने पुराने इतिहास में देश देशान्तरों में फैलते जाते थे, तुम्हारा वह फैलना जारी रहता। अब भी इस पुण्य के रस्ते को स्वीकार करो, तुम्हारा अवश्य कल्याण होगा, गौरक्षा का उपाय भी इससे बढ़कर और नहीं है, कि तुम्हारे सब के घरों में गौओं का पालन हो, इस तरह पर तुम उनकी रक्षा करो, और वह तुम्हारी रक्षा करें, तुम उनका पोषण करो और वह तुम्हारा पोषण करें–

इष्ट और पूर्त कर्म

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। तद्ये हवै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते, ते चन्द्रमसमेव लोक माभि जयन्ते (प्रश्न० १।९)

तब वे पुरुष जो इष्ट और पूर्त को ही पर्याप्त जानकर सेवन करते हैं, वे चन्द्रलोक को ही जीतते हैं।

इष्ट वे कर्म हैं जिनकी सारी विधि वेद मन्त्रों के साथ होती है, जैसे यज्ञ। और पूर्त लोकोपकार के दूसरे काम, जैसे बाग और कुएं लगवाना, पाठशालाएं और अनाथालय खोलना इत्यादि।

नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रायश्चित्त और निषिद्ध कर्मों का उद्देश्य।

नित्य कर्म मनुष्य को निःस्वार्थ होना सिखाते हैं, और अन्तःकरण को शुद्ध बनाते हैं। शुद्ध अन्तःकरण में शुभ संकल्प उत्पन्न होते हैं, और शुभ संकल्पों के उदय से मनुष्य का जीवन

शुद्ध हो जाता है, और बड़ा उदार हो जाता है। शुद्ध अन्तः-करण में विक्षेप नहीं रहता, वह किसी एक विषय पर एकाग्र हो सकता है, ऐसे ही अन्तःकरण में परमात्मा का ध्यान हो सकता है, जिस ध्यान का फल उसके साक्षात् दर्शन होते हैं—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः। ८। एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश। प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा। ९। यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते याँश्च कामान्। तं तं लोकं जयते ताँश्च कामाँस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः।१०।

(मुण्ड० ३।१)

न वह आंख से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से, न ही अन्य इन्द्रियों से, न तप से, और न कर्म से, हां ज्ञान की निर्मलता से जब उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब वह उस निरवयव का ध्यान करता हुआ उसको देख लेता है। ८। यह सूक्ष्म आत्मा इस चित्त से जानने योग्य है, जिस

में प्राण पाँच प्रकार से(पांच इन्द्रियों के रूप में)प्रविष्ट हुआ है। प्राणों के साथ प्रजाओं का सारा चित्त प्रोया हुआ है, जिसके शुद्ध होने पर यह आत्मा प्रगट होता है ।९। शुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष जिस २ लोक को मन से संकल्प करता है, और जिन कामनाओं को चाहता है (अपने लिये वा दूसरों के लिये) उस २ लोक को जीतता है और उन कामनाओं को प्राप्त होता है। इसलिये जो ऐश्वर्य को चाहता है, उसे आत्मज्ञानी की पूजा करनी चाहिये। १०।

सो इस प्रकार नित्य कर्म जब श्रद्धा भक्ति के साथ यथाविधि अनुष्ठान किये जाते हैं, तो वे अन्तःकरण को शुद्ध बनाकर मोक्ष के योग्य बना देते हैं।

नैमित्तिक कर्म मनुष्य को उन कर्तव्यों की याद दिलाते हैं जो उसकी अपनी निज की उन्नति के लिये वा अपनों की उन्नति के लिये समय २ पर अनुष्ठेय होते हैं। इन्हीं कर्तव्यों के पालन से मनुष्यजाति की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। इसी लक्ष्य को प्रगट करते हुए कहा है—

अतिपिता बताभूरतिपितामहो बता भूः

काम्य कर्म मनुष्य को अपनी कामनाओं के पूरा करने का नेक रसता बतलाते हैं, जिससे उसकी कामना भी पूर्ण हो, और उसका अन्तःकरण भी शुभ वासना वाला हो, क्योंकि कामना ही है जो मनुष्य को पाप के मार्ग पर चलाती है, यदि उसे शास्त्र की मर्यादा में रहकर ही पूरा करने की

इच्छा दृढ़ हो जाए, तो कामना की पूर्ति और आत्मा का कल्याण दोनों साथी हो जाते हैं।

प्रायश्चित्त कर्मों का उद्देश्य यह है, कि यदि कथञ्चित् कोई अनुचित कर्म हो भी जाए, तो उसके मलिन संस्कार अन्तःकरण से धो दिये जाएं, जिससे उस कर्म से घृणा होकर फिर कभी उधर रुचि न हो।

निषिद्ध कर्मों का उद्देश्य यह है, कि मनुष्य को उन कर्मों से सावधान कर दिया जाए, जो उसके लिये हानिकारक हैं, ताकि वह पहले ही सावधान रहे, और उनका अवसर आजाने पर भी उनमें न फंसे।

कर्म किस तरह अधिक शक्ति वाला बनता है

तेनोभौ कुरुतो, यश्चैतदेवं वेद,यश्च न वेद नानातु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति (छान्दो० १।१०।१)

उससे (ओम्* अक्षर से, यज्ञ तो) दोनों करते हैं, वह जो यह (ओम् के इस असली अर्थ को) जानता है, और वह जो नहीं जानता है। पर जानने और न जानने में बड़ा भेद है। (वह यज्ञ) जिसको पुरुष विद्या से श्रद्धा से, और

* यद्यपि वहां यह विद्या श्रद्धा और उपनिषद् ओम् के प्रकरण में कही हैं, पर यह सारे धर्म कार्यों में अंग है।

उपनिषद् से पूरा करता है, वही अधिक शक्ति वाला होता है*।

वैदिक कर्मों के पूरा करने की यह रीति नहीं, कि जिसने चाहा कर लिया और जिसने चाहा करा दिया, इनके पूरा करने और कराने वालों में अध्यात्मबल होना चाहिये, विशेषतः काम्य कर्मों में। अतएव बृहदारण्यक (१.३)में प्राण-विद्या के प्रकरण में अलंकार से यह दिखलाया है, कि शुद्ध वृत्तियों ने दुष्ट वृत्तियों (असुरों) पर जय पाने के लिये जो यज्ञ आरम्भ किया, उसमें पहले पहल वाणी को उद्गाता बनाया गया, वाणी में पाप का लेश आजाने से उसे छोड़कर घ्राण को उद्गाता बनाया इसी प्रकार क्रम से सारे इन्द्रियों की परीक्षा करके अन्त में प्राण को उद्गाता बनाया। प्राण अपने व्रत में दृढ़ रहा, उसमें कोई स्वार्थ नहीं आया। उससे जो कुछ खाया जाता है, वह सारे इन्द्रियों के जीवन के लिये होता है इत्यादि। इस आख्यायिका से दिखलाया है, कि यज्ञ में उद्गाता ऐसा होना चाहिये, जो अपनी जाति में प्राण की तरह काम करे, इसी लिये कहा है–

एवꣳ ह वा एनꣳ स्वा अभि संविशन्ति, भर्ता स्वानाꣳ श्रेष्ठः पुरएता भवत्यन्नादो ऽधि-

---

* विद्या, उपासना, चित्त की एकाग्रता। उपनिषद्=रहस्य। जो कर्म तुम कर रहे हो, यदि उसमें तुम्हारा चित्त गड़ गया है, तुम्हारे हृदय में श्रद्धा है, और उसके रहस्य को समझते हो, तभी वह कर्म अधिक शक्ति वाला होगा।

पतिर्य एवं वेद (बृह० १ । ३ । १८)

जो इसे ठीक २ जान लेता है (प्राण के धर्मों पर ध्यान धरता हुआ अपने जीवन को तद्रूप बना लेता है) इसी प्रकार अपनी ज्ञाति के लोग उसके पास आते हैं (जैसे प्राण के पास इन्द्रिय अपने जीवन के लिये आए) और वह (पास आए) अपने लोगों का पालने वाला होता है (जैसे प्राण इन्द्रियों का पालने वाला है) वे अपने लोगों का सबसे उत्तम अगुआ (नेता, लीडर) होता है, (जैसे प्राण इन्द्रियों का है) वह बड़ा दृढ़ (मज़बूत) मालिक होता है ।

इत्यादि बहुत से आवश्यक गुणों का उद्गाता के लिये उपदेश करके उद्गीथ गान से पहले उसके लिये यह जप लिखा है ।

असतो मा सद्गमय, तमसो माज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय (बृह० ३ । १ । २८)

असत् (मिथ्या) से मुझे सत् की ओर लेजा, अन्धकार से मुझे ज्योति की ओर ले जा, मृत्यु से मुझे अमृत की ओर ले जा ।

ऐसे उद्गाता को अधिकार है, कि अपने मन्त्रों में वर मांगे ॥

स एष एवंविदुद्गाताऽऽत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते, तमागायति ।
(बृह० ३ । १ । २८)

हां यह उद्गाता अपने लिये वा यजमान के लिये जो कामना चाहता है, उसे गाता है* ।

प्रायश्चित्त कर्मों का उद्देश्य यह है, कि यदि किसी कर्तव्य में भ्रान्ति से कोई त्रुटि हो, तो उसको पूरा किया जाए, और जो हृदय की दुर्बलता से कोई निषिद्ध कर्म हो जाए, तो प्रायश्चित्त के द्वारा चित्त पर से उन मलीन संस्कारों को दूर कर दिया जाए, जो ऐसे निषिद्ध कर्मों में रुचि उत्पन्न करने वाले हैं। प्रायश्चित्त के द्वारा उन मलीन संस्कारों के कट जाने से उसे पाप से घृणा हो जाती है, फिर उसकी रुचि को कोई भी प्रलोभन नहीं डिगा सकता, इसीलिये तब तक प्राय-श्चित्त करना चाहिये, जब तक पाप से पूरी २ घृणा होकर फिर कभी चित्त की रुचि को उधर डोलने का सन्देह न रहे।

निषिद्ध कर्मों के बतलाने का उद्देश्य यह होता है, कि मनुष्य उन खतरों से सावधान रहे, जो उसे पतित करने वाले हैं।

इस प्रकार जब मनुष्य पतित करने वाले खतरों से सावधान रहता है, और यदि किसी प्रकार कोई त्रुटि आ भी जाए, तो उसके मैल को प्रायश्चित्त के द्वारा धो डालता है, अपनी लौकिक और पारलौकिक कामानाओं को शास्त्रीय मार्ग से प्राप्त करता है, और अपनी और अपने सम्बन्ध वालों की वृद्धि के उपायों में तत्पर रहता है, और नित्य कर्मों के

---

* ऐसे पुरुष को अपने वा यजमान के लिये यज्ञ में वर मांगने के मन्त्र पढ़ने का अधिकार है ।

द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध बनाता रहता है, तब वह 'इहामुत्र च मोदते' यहां और वहां सदा आनन्द भोगता है।

चरित का वर्णन। } उपनिषदों में जिस चरित का कर्म से अलग वर्णन है, स्मृतियों में उसका यह स्वरूप दिखलाया है:—

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद् विदुर्बुधाः॥

मन, वाणी और कर्म के द्वारा समस्त प्राणधारियों के विषय में द्रोह से रहित रहना, और सब के भले में रहना, और ज्ञान को बढ़ाते रहना, बुद्धिमान् लोग इसको शील (चरित, चरित्र, आचार) कहते हैं। यदि मनुष्य अपने इस शील को नहीं सुधारता, तो वेद उसका भला नहीं कर सकते, इसीलिये कहा है—'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' जो आचार से हीन है, उसे वेद पवित्र नहीं करते (अर्थात् मनुष्य का शील वैदिक कर्मों का एक अंग है)।

अपने कर्तव्य का पालन मनुष्य को अन्तिम श्वास तक निबाहना चाहिये। } **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे (ईश० २)**

मनुष्य को चाहिये कि कर्मों को करता हुआ ही सौ बरस जीने की इच्छा करे, यही प्रकार है जिससे तुझे कर्म नहीं चिमटेगा, (बन्धन में नहीं डालेगा) इसके बिना कोई और प्रकार नहीं है।

छटा अध्याय-(सामाजिक जीवन के वर्णन में)

———:-o-:———

सामाजिक जीवन की आवश्यक बातें।

सामाजिक जीवन में बहुत सी बातों के दिखलाने की आवश्यकता होती है। उस समय के लोगों का घरेऊ और परस्पर का व्यवहार, उनकी विद्या और उसकी प्राप्ति के उपाय, व्यवहार और दूसरे व्यवसाय-उनके मोद प्रमोद और उत्सव, विवाह के नियम, उत्तराधिकार की व्यवस्था, धार्मिक विश्वास और उनका समाज पर प्रभाव, इत्यादि २। पर हम यहां उन्हीं बातों का अधिकतर निर्देश करेंगे, जिन्होंने उस समय के मानव समाज को उच्च अवस्था में रक्खा हुआ था, उपनिषदों में अधिकतर इन्हीं बातों का पता मिलता है, हां प्रसंगवश से आई हुई जो बातें दूसरे विषयों पर भी प्रकाश डालती हैं, उनको भी दिखलाया जाएगा। यद्यपि वह विषय जिन पर हम यहां बहुत थोड़ा प्रकाश डाल सकते हैं, उस समय के दूसरे ग्रन्थों की सहायता लेकर बड़े विस्तार और मनोरञ्जक रूप में लिखे जासकते हैं, पर यहां उतना ही दिखलाना अभिप्रेत है, जितना कि उपनिषदों के अन्दर से मिलता है।

राजाओं का वर्णन

अपनी प्रजा की ओर जो राजा का कर्तव्य है, उपनिषदों के समय इस ओर पूर्ण दृष्टि दी गई है। प्रजा में विद्या का बढ़ाना, उनमें उदार भावों का

फैलाना, उनमें सुख शान्ति स्थापन करना, उनके धन को बढ़ाना, दोषों से उनको बचाना और धर्म की ओर रुचि बढ़ाना, इत्यादि धर्म हैं, जिनका पालन करते हुए हम उस समय के राजाओं को देखते हैं। हम केकय देश के राजा अश्वपति को यह कहता हुआ पाते हैं—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥
(छान्दो० ५। ११। ५)

मेरे देश में कोई चोर नहीं, कंजूस नहीं, शराब पीने वाला नहीं, अग्न्याधान (प्रतिदिन होम के लिये घर में अग्नि की स्थापना) से शून्य नहीं, विद्या से हीन नहीं व्यभिचारी नहीं, व्यभिचारिणी कहां?

हम एक और राजा को यात्रियों (मुसाफिरों) के लिये जगह २ पर सराएं बनवाता हुआ देखते हैं। केवल इसी-लिये नहीं, कि उन्हें रहने को आराम मिले किन्तु इसलिये भी कि उन्हें भोजन भी मिले—

जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस। स ह सर्वत आवस्थान् मापयाञ्चक्रे, सर्वत एव मे ऽत्स्यन्तीति।
(छान्दो० ४। १। १)

जानश्रुति-पौत्रायण (जनश्रुत की सन्तति में से जन-

श्रुत का प्रपोता) श्रद्धा से देने वाला, बड़ा उदार हुआ है, जिसका घर अतिथियों के लिये सदा खुला था, उसने हर एक जगह रहने के घर (ठिकाने, धर्मशालाएं) बनवाए, इस लिये कि हर एक जगह (यात्री) मेरा अन्न खाएंगे । १ ।

प्रजा में विद्या के प्रचार और धर्म की शिक्षा के प्रभाव से इन राजाओं को घबराहट में डालने वाली उलझनों में नहीं पड़ना पड़ता था, अतएव इनको बड़े २ यज्ञ करने के अवसर मिलते थे और विद्या के अनुरागी थे, इनके यज्ञों में और इनकी सभाओं में देश देशान्तरों के विद्वान् इकट्ठे होते थे, यह उनमें हर तरह से विद्या के उत्साह को बढ़ाते थे और स्वयं इतने विद्वान् होते थे, कि प्रायः ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जब ब्रह्मविद्या में इन्होंने स्वयं ब्राह्मणों को शिक्षा दी है। राजा अजातशत्रु को बालाकि-गार्ग्य (ब्राह्मण) ने कहा, कि मैं तुझे ब्रह्म का उपदेश करूंगा, पर जब वह अपना उपदेश समाप्त कर चुका, तो अजातशत्रु ने उसे निश्चय करा दिया, कि अभी तुझे मुझ से सीखने की आवश्यकता है, और गार्ग्य ने ऐसा ही किया (देखो बृह० २ । १) फिर हम गौतम (ब्राह्मण) को राजा जैवलि-प्रवाहण के पास विद्या सीखता हुआ पाते हैं, जिस विद्या के विषय में प्रवाहण ने यह कहा था, हे गौतम! यह विद्या तुझ से पहले किसी ब्राह्मण को नहीं मिली, इसका शासन क्षत्रियों में ही होता रहा है (देखो छान्दो० ५ । ३ । १०) इस प्रवाहण-जैवलि को हम दूसरी जगह (छान्दो० १ । ८ । ९) उद्गीथ विद्या के विषय में दो ब्राह्मणों को चुप कराता हुआ देखते हैं । इसी प्रकार हम केकय

देश के राजा अश्वपति से छः ब्राह्मणों को वैश्वानर विद्या का उपदेश ग्रहण करते हुए देखते हैं॥

चारों वर्णों का वर्णन } बृहदारण्यक १।४ में चारों वर्णों का वर्णन किया गया है। यहां यह वर्णों का भेद आजकल के जाति भेद की तरह कड़ा नहीं है, किन्तु एक स्वाभाविक (कुदरती) भेद पाया जाता है, और इसी-लिये यह चारों वर्णों का भेद कुदरत में भी दिखलाया है, जैसे अग्नि ब्राह्मण है, इन्द्र, वरुण, रुद्र इत्यादि क्षत्रिय हैं, जो देवता श्रेणियों में रहते हैं, जैसे वसु (८ हैं), रुद्र (११ हैं), आदित्य (१२ हैं) यह वैश्य हैं, पृथिवी शूद्र है। कुदरत में वर्ण-भेद दिखलाने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि यह भेद गुणों के भेद से है, क्योंकि कुदरत की जिस शक्ति को जिस गुण-वाला देखा, उसका वही वर्ण कह दिया, इसके सिवाय कुदरत में और क्या भेद है।

छान्दोग्य ४।४) में सत्यकाम-जाबाल की सुन्दर कथा इस बात को और भी स्पष्ट कर देती है–जबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता से पूछा, 'मातः! मैं ब्रह्मचर्य वास करना चाहता हूं, सो मैं किस गोत्र का हूं। १।'

उसने उससे कहा, 'बेटा मैं यह नहीं जानती हूं, कि तू किस गोत्र का है, अपनी जवानी में परिचारिणी (आए गए की सेवा करने वाली) के तौर पर बहुत घूमती हुई मैंने तुझे पाया है। सो मैं यह नहीं जानती हूं, कि तू किस गोत्र का है, हां मेरा नाम जबाला है, और तेरा नाम सत्यकाम है,

सो तू यही कह, कि मैं जबाला का पुत्र सत्यकाम हूं' ।२। तब वह हारिद्रुमत-गौतम के पास आया और कहा 'भगवन् ! मैं आपके निकट ब्रह्मचारी बनकर रहना चाहता हूं, क्या मैं आपकी शरण लेसकता हूं । ३ ।'

उसने उसे कहा 'सोम्य ! तू किस गोत्र का है ?'

उसने उत्तर दिया, 'भगवन् ! मैं यह बात नहीं जानता हूं, कि मैं किस गोत्र का हूं, मैंने अपनी माता से पूछा था, उसने मुझे यह उत्तर दिया है, 'अपनी जवानी में दासी के तौर पर बहुत घूमती हुई मैंने तुझे पाया है, सो मैं यह नहीं जानती हूं, कि तू किस गोत्र का है । हां मेरा नाम जबाला है, और तेरा नाम सत्यकाम है' 'सो हे भगवन् ! मैं जबाला का पुत्र सत्यकाम हूं' । ४ ।

तꣳहोवाच 'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति, समिधं सोम्याहरोपत्वानेष्ये, न सत्यादगा इति'

उसने उसे कहा 'सच्चे ब्राह्मण के सिवाय यह बात कोई नहीं साफ कह सकता, जा सोम्य ! समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन करूंगा, तू सचाई से नहीं टला है' ।५।

तब वह युवा ब्रह्मचारी बनाया गया, और यह जो सचाई से प्यार करने वाला और असली सचाई (ब्रह्मविद्या) का ढूंढने वाला था, इसको गुरु की शिक्षा से पहले ही प्रकृति के दृश्यों ने ही उस सचाई पर पहुंचा दिया, जहां वह पहुंचना चाहता था, और आचार्य ने अपने उपदेश से उसको और दृढ़ कर दिया ।

यह कथा प्रकट करती है, कि एक दासी का पुत्र जो अपने पिता को भी नहीं जानता था, केवल सचाई के कारण ब्रह्मचारी हो गया, और प्रकृति तथा आचार्य से पूर्ण विद्या सीखकर अन्त में उस समय के सबसे बड़े धर्मशिक्षकों में हो गया। जैसाकि छान्दोग्य ४। १० में हम इसको आचार्य के पद पर देखते हैं।

वर्णों के आपस में सम्बन्ध।

हम छान्दोग्य ४। १२ में यह एक बड़ा स्पष्ट उदाहरण देखते हैं, कि रैक ब्राह्मण ने जानश्रुति-पौत्रायण की कन्या से विवाह किया। रैक ब्राह्मण बड़ा पुण्यात्मा बतलाया गया है, और ब्रह्मविद्या में भी बहुत ऊंचा पहुंचा हुआ था। अब यह जानश्रुति-पौत्रायण कौन है? रैक ने इसे शूद्र कहकर पुकारा है, पर व्याख्याकार इस शब्द का दूसरा अभिप्राय प्रकट करके यह सिद्ध करते हैं, कि यह क्षत्रिय राजा था। अस्तु सर्वथा यह बात स्पष्ट है, कि एक ब्राह्मण ने अपने वर्ण से भिन्न वर्ण में विवाह किया। स्मृतियों में भी ऐसी अनुज्ञाएं मिलती हैं। पर आजकल का आचार इससे इतना परे हट गया है, कि अब कोई भी व्यक्ति हो, ऐसा करने पर अपनों से अलग कर दिया जाता है। शास्त्रों में स्पष्ट कहा है, कि आचार और स्मृति का परस्पर विरोध हो, तो स्मृति के प्रमाण से कर्म होना चाहिये, और इसी प्रकार श्रुति और स्मृति के विरोधमें श्रुति प्रमाणसे काम होना चाहिये। यहां श्रुति और स्मृति दोनों को अपना मिला हुआ बल लगाकर भी देशचाल के सामने हार ही माननी पड़ती है। तब यह बात

कि शास्त्र पर लोगों का विश्वास है, विश्वसनीय नहीं हो सकती, जब तक कि शास्त्र मुकाबिले में अपना बल नहीं दिखलाता।

उस समय के ब्राह्मण } उस समय के ब्राह्मणों को जहां हम धर्म और विद्या के प्रचार में तत्पर देखते हैं, वहां उनकी लौकिक स्थिति भी बहुत अच्छी पाते हैं। हम प्राचीनयोग्य ब्राह्मण के विषय में पढ़ते हैं, कि उसके घर बहुतायत के साथ सब तरह का धन था, रथ और खच्चरें, और दासियें, और मुहरें थीं (छान्दो० ५।१३) फिर वैयाघ्रपद्य के विषय में पढ़ते हैं, कि सब दिशाओं से उसके पास भेंटें (नज़राने) आती थीं, और जब वह चलता था, तो रथों की पंक्तियां उसके पीछे चलती थीं (छान्दो० ५।१४)। फिर आरुणि-गौतम ब्राह्मण को जैवलि-प्रवाहण राजा के सम्मुख हम यह कहते हुए देखते हैं, कि मेरे पास हाथी, सोना, गौओं, घोड़ों, दासियों, परिवारों. और बहुमूल्य वस्त्रों की बहुतायत है, और वह मेरे पास अनुखुट्ट पड़ा है (बृह० ६।२।७)। याज्ञवल्क्य ने भी जब घर छोड़कर जाना चाहा, तो उसने अपने बहुत बड़े धन को अपनी स्त्रियों में बांटने का विचार किया, जिस पर मैत्रेयी ने पूछा, कि क्या मैं इस धन से अमर हो जाऊंगी, तो याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि नहीं, किन्तु जैसे अमीरों का जीवन गुज़रता है, वैसे तेरा भी गुज़रेगा (बृह० ४।५।१।३) सो इस प्रकार हम उस समय के ब्राह्मणों को बहुत बड़े अमीर देखते हैं। ब्राह्मणों के

पास धन नहीं होना चाहिये, यह भाव जो पीछे आकर उत्पन्न हुआ था, इसका उस समय गन्ध भी नहीं था। पर हां यह याद रखना चाहिये, कि धन के साथ जो खतरे हुआ करते हैं, उनसे वे सर्वथा बचे हुए थे। वे अमीर बनकर विषयानुरक्त नहीं थे, किन्तु स्वयं धर्मात्मा थे, और धर्म के आचार्य थे। धन उनकी लौकिक ज़रूरतों को और धर्म की ज़रूरतों को पूरा करता था। ब्राह्मणों की जीविका के उपाय दान, याजन (यज्ञकरवाना) और शासन (विद्या पढ़ाना) थे। सो दान यद्यपि इन उपायों में एक स्वतन्त्र उपाय कहा है, पर असल में यह विद्या में परिश्रम करने वालों के लिये उनके परिश्रम का पुरस्कार (इनाम) है, और ब्राह्मण जितना विद्या में ऊंचा पहुंचता है, उतना ही ऊंचे २ पुरस्कार पाने के योग्य बन जाता है, और यदि विद्या के पूरे मर्म जाने बिना दान लेता है, अर्थात् विद्वानों के स्वत्व पर एक अविद्वान् अपना स्वत्व जमाता है, तो वह पापी बनता है, और उसको वह लिया हुआ दान चुकाना पड़ता है। किस तरह पर? इसका उत्तर यह है, कि मरने के अनन्तर उस दाता के पशु बनकर* (देखो बृह० ५। १४)

याज्ञवल्क्य के उन वचनों से इस बात की पूरी पुष्टि हो जाती है, कि जब याज्ञवल्क्य जनक की समझी हुई विद्या-

---

* यहां बुडिल और जनक के संवाद के तात्पर्य को देखो, न कि शब्दार्थ को। किसी तात्पर्य को दिखलाने के लिये इतिहास कल्पना किये जाते हैं।

ओं में उसकी त्रुटियों को ही पूरा कर रहा है, किसी अपूर्व विद्या का स्वतन्त्रतया शासन नहीं कर रहा', तथापि जनक उसी त्रुटि की पूर्ति को देखकर ही जब उसे बहुत दान देना चाहता है, तो याज्ञवल्क्य कह देता है-पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेत' इति (बृ० ४ । १ । २, ३, ४, ५, ६, ७) मेरे पिता की सम्मति है, कि पूरा शासन किये विना (शिष्य से कुछ) न लेवे । सो स्पष्ट है, कि यह दान उनकी विद्या का मान होता था, जैसा कि जनक की सभा में हज़ार गौएं और बहुत सा सोना उसके लिये रक्खा गया था, जो सबसे बढ़कर विद्वान् हो (बृह० ४ । १ । १-२) ! इसीलिये तो वह इस दान को पाकर बढ़ते ही थे, नकि गिरते थे । जैसाकि अब भी योग्य विद्यार्थी और योग्य विद्वान् ही अपनी योग्यता का पुरस्कार पाते हैं, और उससे उनका उत्साह बढ़ता है । याजन में भी वह इसी तरह अपना हक समझते थे, क्योंकि वह दूसरे की भलाई में अपना समय देते थे, अपनी विद्या का बल लगाते थे, और अध्यात्म बल को खर्च करते थे । उषस्ति-चाक्रायण ने एक यज्ञ में ऋत्विज् बनने से पहले यजमान से कहलवा लिया था कि जितना धन तू इन सारे ऋत्विजों को देगा, उतना मैं अकेला लूंगा (छान्दो० १ । ११ । १) । सो इस प्रकार दूसरों को विद्या पढ़ाने और धार्मिक बनाने से जो कुछ उनको मिलता था, वह स्पष्ट ही उनके उच्च उद्देश्य का फल है । पर यह बातें सदा उनकी जीविका की समझी गई हैं; या यूं कहो, कि जिनका काम धर्म और विद्या का प्रचार हो, उनके लिये यह जीविका उपयोगी है, पर यह भूलना

नहीं चाहिये, कि जीविका जीविका ही है, इसलिये इनमें से जिस जीविका में अब सत्ता नहीं रही, उसको छोड़ देने में कल्याण है, और जो अब इसके अधिक उपयोगी है, उसको ग्रहण करने में कल्याण है।

उस समय के समाज में स्त्रियों का स्थान।

उस समय के समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा थी, अपने पतियों की धर्म-कार्यों में वह साथी होती थीं, आज कल के परदे की चाल उस समय न थी, बड़े २ अवसरों पर पुरुषों की सभाओं में भी सम्मिलित होती थीं, और उनके विचारों में सम्मिलत होती थीं, यह सारी बातें बृहदारण्यक (४।५) में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद और जनक की सभा में याज्ञवल्क्य के साथ गार्गी का संवाद (३।८) पढ़ने से पूरी स्पष्ट हो जाती हैं,* पत्नी अपने पति की अर्धाङ्गी समझी जाती है, इसका वर्णन करते हुए बृहदारण्यक (१।४।३) में लिखा है—

'तस्मादिदमर्धवृगलमिवस्वः' इति हस्माह याज्ञवल्क्यः।

याज्ञवल्क्य ने कहा 'हम दोनों (में से हर एक) (सीप के) आधे दल की नाईं हैं'।

---

* याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद देखो 'उपनिषदों की शिक्षा' अध्याय २ और गार्गी के एक प्रश्न का उत्तर जो याज्ञवल्क्य ने दिया है, वह 'उपनिषदों की शिक्षा' अध्याय १ में लिख आए हैं।

चारों आश्रमों का वर्णन। } त्रयो धर्मस्कन्धाः । यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः । १ । तप एव द्वितीयः, ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् । सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति । २ (छान्दो० २ । २३)

धर्म के स्कन्ध (बड़े डाल) तीन हैं, यज्ञ करना, पढ़ना, और दान देना, यह पहला (स्कन्ध) है । १ । तप ही दूसरा है, ब्रह्मचारी बनकर आचार्य के घर में रहते हुए अपने आपको पूरा पूरा साधना यह तीसरा है । यह सारे (धर्मी) पुण्य लोकों को प्राप्त होते हैं, हां ब्रह्मसंस्थ (ब्रह्म में दृढ़ निष्ठावाला) अमृतत्त्व (मोक्ष) को प्राप्त होता है ।

यहां तीन स्कन्ध तीन आश्रम हैं, जिनमें से एक गार्हस्थ्य, दूसरा वानप्रस्थ और तीसरा ब्रह्मचर्य है । और फिर ब्रह्मसंस्थ से यहां चतुर्थाश्रमी संयासी अभिप्रेत है । पहले तीनों आश्रमी अपने वेदोक्त कर्तव्य को पालते हुए पुण्यलोकों को प्राप्त होते हैं, ओंकार का उपासक संन्यासी अमृतत्व को लाभ करता है । यहां आश्रमों का क्रम कहने में तात्पर्य नहीं, इसलिये गार्हस्थ्य को पहले कहा है ।

ब्रह्मचर्य आश्रम । } आश्रमों में सबसे पहला, और सबके लिये आवश्यक, ब्रह्मचर्य आश्रम है । ब्रह्मचर्य

विद्याऽध्ययन का अंग है, उपनिषदों में जगह २ पर विद्याध्ययन के साथ २ ब्रह्मचर्य की आवश्यकता दिखलाई गई है और यह भी प्रतीत होता है, कि जो लोग ब्रह्मचर्य धारण करके विद्याध्ययन कर चुके होते थे, वे भी यदि फिर किसी विद्या को पढ़ना चाहते थे, तो ब्रह्मचर्य धारण करते थे। प्रश्न उपनिषद् के आदि में छः वेदवेत्ता ब्राह्मणों का वर्णन है, जो परब्रह्म की अन्वेषणा में पिप्पलाद के पास पहुंचे थे। यद्यपि वे पहले ब्रह्मचर्य को समाप्त कर चुके थे, तो भी पिप्पलाद ने उनको कहा, कि तुम बरस भर फिर ब्रह्मचर्य के साथ यहां रहो, तब अपनी रुचि अनुसार प्रश्न पूछो।

ब्रह्मचर्य ब्रह्मप्राप्ति के मुख्य साधनों में से एक है।

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति, तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

(छान्दो० ८।४।३)

जो इस ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य से ढूंढते हैं, उन्हीं का यह ब्रह्मलोक है, और सब लोकों में उनकी ही स्वतन्त्रता होती है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः

(मुण्ड० ३।१।५)

सच्चाई, तप, यथार्थज्ञान और ब्रह्मचर्य से यह आत्मा सदा पाया जाता है, जो शरीर के अन्दर शुद्ध ज्योतिर्मय है; जिसको वे यति जन देखते हैं, जिनके दोष क्षीण हो गए हैं।

एषह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते।

(छान्दो० ८ । ५ । ३)

यह आत्मा फिर गुम नहीं होता है, जिसको पुरुष ब्रह्मचर्य से ढूंढ पाता है।

छान्दोग्य ८ । ५ में ब्रह्मचर्य की बड़ी विस्तृत महिमा दिखलाई है, जिसका सारांश यह है, कि जितने बड़े २ श्रौत कर्म हैं, उन सबके फल ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत होते हैं। यह आश्रम मनुष्य की उन्नति की जड़ है, दूसरे आश्रम त्यागे जा सकते हैं, पर ब्रह्मचर्य सबके लिये आवश्यक है।

गृहाश्रम। } दूसरा बड़ा भारी आश्रम गृहाश्रम है। ब्रह्मचर्य के पीछे इस आश्रम को बहुत बड़ा आवश्यक जानकर यह कहा गया है।

आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। (तै० १ । ११ । १)

आचार्य के लिये प्यारा धन लाकर सन्तान के सिलसिले को मत तोड़ो।

गृहाश्रमी का आदर और उसके अधिकार। } जैसाकि मिथ्या वैराग्य के समय में यह भाव उत्पन्न हो गया था, कि

गृहाश्रम में रहकर पुरुष ब्रह्मप्राप्ति के योग्य नहीं होता, उपनिषदों के समय में इस भाव का गन्धमात्र नहीं पाया जाता। यहां बड़े २ ऋषि महर्षि जो ब्रह्मविद्या के आचार्य हैं, वे गृहस्थ हैं। याज्ञवल्क्य ने यद्यपि पीछे संन्यास धारण किया, पर वह ब्रह्मविद्या सीखने के लिये नहीं; किन्तु वह इससे पहले ही ब्रह्मविद्या के आचार्य थे, जब वह जनक को उपदेश देते रहे, और जनक उसके बदले में गाएं देता रहा है, और वह स्वयं गौओं की ज़रूरत बतलाते रहे हैं (देखो बृह० अध्याय ४)। और एक बड़ी सभा में, जहां कुरु और पञ्चालों के ब्राह्मण इकट्ठे हुए थे, जब जनक ने एक हज़ार गौएं, जिनमें से हर एक के सींगों के साथ सोने के सिक्के बांधे गए थे, अलग करके कहा, कि भगवान् ब्राह्मणो! तुम में से जो वेदों के मर्म को बढ़कर समझने वाला है, वह इन गौओं को हांक ले, तो याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य को उन गौओं के हांक ले चलने की आज्ञा दी, और दूसरे लोगों के कुपित होने पर बड़े विनय से कहा, कि हमें गौओं की ज़रूरत थी। सो यह इतनी बड़ी ज़रूरत गृहस्थ के लिये है, न कि संन्यासी के लिये। संन्यासी तो धन की इच्छा से ऊपर उठकर 'अथभिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृह० ४।४।२२)। और फिर संन्यास में जाते २ भी जाने से पहले ही मैत्रेयी को आत्मविद्या का उपदेश देकर गए हैं। उनका संन्यास लेना किसी विशेष उपकार के लिये था, ब्रह्म के साक्षात् दर्शन वह पहले ही कर चुके थे, और कराते थे। इसी प्रकार दूसरे धर्माचार्य भी प्रायः गृहस्थ हैं, अपितु राजा भी हैं, जैवलि-प्रवाहण (छान्दो० १।८; ५।६) अश्वपति

कैकेय (छान्दो० ५ । ११) और राजा जनक ब्रह्मवेत्ता थे, और ब्रह्मविद्या के आचार्य थे, और राज्यतन्त्र को भी पूरी तरह चलाते थे। उपनिषदों में 'महाशालाः' बड़े गृहस्थ, यह शब्द बड़े आदर से कहा गया है (छान्दो० ५। ११। ३; मुण्ड० १। १। ३) और छान्दोग्य की समाप्ति में गृहाश्रम का विधान करके उसके कर्तव्य बतला कर उसी का फल ब्रह्मलोक बतलाया है, और बृहदारण्यक की समाप्ति में गृहाश्रम सम्बन्धी संस्कारों का वर्णन किया है। यह सब बातें गार्हस्थ्य में विशेष आदर को प्रकट करती हैं।

वानप्रस्थाश्रम। } ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते (छान्दो० ५ । १० । १) तपः श्रद्धे ये ह्युप वसन्त्यरण्ये।

(मुण्ड० १ । २ । ११)

और वे जो बन में श्रद्धा और तप में तत्पर हैं।

वे जो बन में तप और श्रद्धा का सेवन करते हैं।

संन्यासाश्रम। } एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति (बृह० ४।४।२२)

इसी लोक (ब्रह्म) को ही चाहते हुए परिव्राजक (संन्यासी) घरों से चले जाते हैं।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगा-

द्यतयः शुद्धसत्त्वाः । तेब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे (मुण्ड० ३।२।६)

वेदान्त के विज्ञान का उद्देश्य (परमात्मा) जिन्होंने ठीक २ निश्चय कर लिया है, और जो यति जन संन्यास (त्याग) और योग से शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं, वे सब, सबसे उत्तम अमृत को भोगते हुए मरने के समय ब्रह्म लोकों में स्वतन्त्र होते हैं।

अतिथियों का आदर } उस समय के समाज में यह बड़ी श्रेष्ठ बात पाई जाती है, कि वह अभ्यागतो का पूरा आदर करते थे, इसके लिये उनके ये नियम हैं—

अन्नं बहु कुर्वीत । तद्व्रतम् (तै० २।९)

अन्न को बहुत सम्पादन करे, यह व्रत है।

न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तद्व्रतम् । तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात् । अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते । एतद्वै मुखतो-ऽन्नꣳराद्धम् । मुखतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते । एत-द्वै मध्यतोऽन्नꣳराद्धम् । मध्यतोऽस्मा अन्नꣳरा-ध्यते । एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳराद्धम् । अन्ततोऽस्मा-

अन्नँराध्यते (तै० ३ । १०)

कभी किसी (अतिथि) को अपने घर से वापिस न फेरे, यह व्रत है । इसलिये पुरुष को चाहिये, कि जिस किस विध से बहुत अन्न प्राप्त करे, क्योंकि (भले) लोग इसके लिये (अतिथि के लिये) अन्न तय्यार है, यही कहते हैं (न कभी नहीं करते) । यदि वह (दाता) मुख्यता से (आदर मान से) अन्न तय्यार करता है (अर्थात् अतिथि के लिये देता है) तो मुख्यता (आदर मान) से इस (देने वाले) के लिये अन्न तय्यार होता है, यदि वह साधारणता से अन्न तय्यार करता है तो साधारणता से इसके अपने लिये अन्न तय्यार होता है, यदि वह निकृष्टता से अन्न देता है, तो निकृष्टता से इसके लिये अन्न तय्यार होता है (अर्थात् जैसा दिया, वैसा ही फल मिलता है, इसलिये सदा आदर मान से देना चाहिये) ।

विद्या की व्यापकता — उस समय के समाज में विद्या एक व्यापक गुण प्रतीत होता है, अश्वपति-कैकेय बड़े गौरव से इस बात को प्रकट करता है, कि मेरे राज्य में कोई अविद्वान् नहीं है (छान्दो० ५ । ११ । ५) । और उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को कहता है—

श्वेतकेतो ! वस ब्रह्मचर्यं, न वै सोम्यास्मत्-कुलीनोऽननूच्यब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ।

(छन्दो० ६ । १ । १)

श्वेतकेतो ! जाओ ब्रह्मचर्य वास करो, क्योंकि बेटा हमारे कुल का कोई पुरुष विद्या न पढ़कर ब्रह्मबन्धु* सा बन जाय, यह नहीं होता—

विद्यादान में ब्राह्मणों की रुचि।

विद्यादान में ब्राह्मणों की कितनी रुचि थी, यह इससे पता लगता है, कि तैत्तिरीय (१।४) में एक प्रार्थना और होम बतलाया गया है, जिसमें पहले अपनी शारीरिक शक्तियों के लिये और फिर धन के लिये प्रार्थना है और फिर यह प्रार्थना है, कि मेरे पास सब तरफ से बहुत २ से विद्यार्थी पढ़ने के लिये आवें। इनमें से पहली दोनों प्रार्थनाएं इसलिये हैं, कि मैं पढ़ाने में समर्थ होऊं और उनकी जरूरतों को पूरा कर सकूं। वे मन्त्र ये हैं—

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्यो-ऽध्यमृतात् सम्बभूव । सभेन्द्रोमेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम् । शरीरं मे वि-चर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि-विश्रवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसिमेधयापिहितः । श्रुतं मे गोपाय। आवहन्ती वितन्वाना । कुर्वा-

---

* वह जो ब्राह्मणों को अपने बन्धु बतलाता है, पर स्वयं ब्राह्मण के गुणों से भूषित नहीं।

णाऽचीरमात्मनः । वासा ँसि मम गावश्च । अन्नपानेचसर्वदा । ततोमेश्रियमावह । लोमशां पशुभिः सह स्वाहा । आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । प्रमायन्तु ब्रूह्मचारिणः स्वाहा । दमायन्तु ब्रूह्मचारिणः स्वाहा । शमा यन्तुब्रूह्मचारिणः स्वाहा । यशोजनेऽसानि स्वाहा । श्रेयान्वस्यसो ऽसानि स्वाहा । तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा । स मा भग प्रविश स्वाहा । तस्मिन्त्सहस्रशाखे । निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा । यथाऽऽपः प्रवता यन्ति । यथामासा अहर्जरम् । एवं मां ब्रूह्मचारिणः । धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसिप्रमाभाहिप्रमापद्यस्व ।

(तै० १ । ४)

जो (ओम्) वेदों में श्रेष्ठ है, सारे रूपों वाला है, वेदों से अमृत से प्रकट हुआ है । वह इन्द्र (मालिक) मुझे मेधा से बलवान् बनाए । हे देव मैं अमृत (वेदार्थ ज्ञान) का धारने वाला होऊं ।

मेरा शरीर योग्य हो। मेरी वाणी बड़ी मीठी हो। मैं कानों से बहुत सुनूं (मुझे आचार्यों से बहुत कुछ उपदेश मिले, तू (ओम्) मेधा से ढपा हुआ ब्रह्म का कोश (मियान) है। मेरे श्रुत (आचर्यों से सुने हुए) की रक्षा कर। तब मुझे वह श्री (खुशी) लादे, जो पशुओं के साथ रोमों वाली हो (भेड बकरी आदि) और जो हरएक समय मेरे लिये वस्त्र और गौओं को, अन्न और पान को लाने वाली, फैलाने वाली, और बिना देर के अपना बनाने वाली (खुशी के रूप में बदलने वाली) हो, स्वाहा! ब्रह्मचारी (वेद के विद्यार्थी) मेरे पास आवें, स्वाहा! ब्रह्मचारी सब तरफ से मेरे पास आवें, स्वाहा! ब्रह्मचारी प्रयत्न से मेरे पास आवें, स्वाहा! सिधे हुए (अपने आपको वश में रखने वाले) ब्रह्मचारी मेरे पास आवें, स्वाहा! मन को शान्त रखने वाले ब्रह्मचारी मेरे पास आवें, स्वाहा!।

मनुष्यों में मैं यशरूप हो जाऊं स्वाहा। मैं बड़े अमीर से श्रेष्ठ होजाऊं स्वाहा! मैं हे भगवन्! तुझ में प्रवेश करता हूं, स्वाहा! तू हे भगवन्! मुझ में प्रवेश कर, स्वाहा! उस तुझ में जिसकी सहस्रों शाखाएं (शबलरूप) हैं, हे भगवन्! मैं अपने आप को शोधता हूं, स्वाहा! जैसे जल निचाई की ओर भागते हैं, जैसे महीने बरस को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार हे धातः! (पैदा करने वाले) मुझे सब ओर से ब्रह्मचारी प्राप्त हों, स्वाहा! तू विश्राम की जगह (जायपनाह) है, मुझे चमका, मुझे अपनी शरण में ले, स्वाहा!।

उस समय की प्रचरित विद्याएं

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳसर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि (छान्दो० ७ । १ । २)

(नारद सनत्कुमार से कहते हैं) हे भगवन् ! मैं ऋग्वेद पढ़ हूं, तथा यजुर्वेद, साम वेद, चौथा आथर्वण, पांचवां इतिहास पुराण, वेदों का वेद (व्याकरणशास्त्र) पित्र्य (श्राद्धकल्प) राशि (गणितशास्त्र) दैव (कुदरत में होने वाली घटनाओं के ज्ञान का शास्त्र) निधि (महाकालादि निधि शास्त्र) वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र) एकायन (नीतिशास्त्र) देवविद्या (निरुक्त) ब्रह्मविद्या (शिक्षा, कल्प और छन्द) भूतविद्या (भूततन्त्र) क्षत्रविद्या (धनुर्वेद) नक्षत्र विद्या (ज्योतिष) सर्पविद्या, और देवजनविद्या यह सब मैं जानता हूं।

नारद कहता है, कि ये विद्याएं मैं पढ़ा हूं, पर यह सम्भव है, कि उस समय और भी कई विद्याओं का प्रचार हो। छान्दोग्य (८ । ३ । २) में एक ऐसा दृष्टान्त दिया गया है, जिससे भूगर्भ विद्या का ज्ञान पाया जाता है—

तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा

उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुः, एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति ।

जैसा कि (भूमि में) दबे हुए सोने के निधि (खज़ाने, सोने की कान) के ऊपर २ घूमते हुए भी वे लोग जो क्षेत्रज्ञ (क्षेत्र की विद्या के जानने वाले) नहीं हैं, वे (उस निधि को) नहीं पासकते, इसी प्रकार ये सब प्रजाएं दिन पर दिन इस ब्रह्म लोक में पहुंचती हुई इसको नहीं ढूंढ पाती हैं।

धर्म और आचार के तात्पर्य पर पहुँच । } विद्या दिल के अन्धेरे को दूर कर देती है, इसलिये विद्वान् किसी के अक्षरों को नहीं देखता, किन्तु वह तात्पर्य पर पहुँचता है । यह बात धर्म और आचार के विषय में अत्यावश्यक है, क्योंकि इस में लोग बहुधा अन्धेरे में पड़ जाते हैं। उपनिषदों के इतिहास इस बात पर पूरा प्रकाश डालते हैं । कठ के आरम्भ की कथा का यह अभिप्राय है, कि वाजश्रवस ने एक यज्ञ में जब अपना सर्वस्व देना था, तो उसने यह सोचकर कि सर्वस्व देदेना है, बूढ़ी गायें—इतनी बूढ़ी, कि जो लेने वाले पर केवल भार रूप होंगी, उसका कुछ नहीं संवारेंगी, देनी आरम्भ कर दीं, पर नचिकेता ने पिता की इस भूल को समझ लिया, और उसने दान के तत्त्व पर ध्यान देते हुए यह समझा—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरि-

न्द्रियाः । अनन्दा नाम तेलोकास्तान् स गच्छ-
ति ता ददत् (कठ० १ । ३)

वे गौएं जो इतनी बूढी हैं; कि जो पीना था पी चुकी हैं, जो खाना था खा चुकी हैं, अब सब तरह से शक्तिहीन हैं, ऐसी गौओं को जो देता है, वह उन लोकों में जाता है, जहां कोई आनन्द नहीं है।

इसी प्रकार छन्दोग्य १ । १० में आया है, कि जब उषस्ति चाक्रायण मारे भूख के तंग हो रहा था, तो उसने एक महावत से जो कुलथ खारहा था. कुछ खाने को मांगा। महावत ने उत्तर दिया शोक है, कि ये जिनमें से मैं खारहा हूं, इनके सिवाय मेरे पास और नहीं हैं। तब उषस्ति ने कहा, इन्हीं में से मुझे भी देदो। उसने वह अपने जूठे उसको देदिये, और उषस्तिने प्रसन्नता से खालिये । तब महावत ने जूठा पानी उसके आगे धरा। उसने पीने से इन्कार कर दिया, और यह कहा 'यदि मैं इस अन्न को न खाता, तो जीता न रहता, पर पानी मुझे बहुत मिल सकता है'। सो वह कुछ थोड़ेसे खाकर बाकी अपनी स्त्री के लिये ले आया। उसकी स्त्री को पहले ही भिक्षा मिल चुकी थी, और वह खाचुकी थी । उसने पति से कुलथ लेकर रखदिये । सवेरे उठकर उस ऋषि को मालूम हुआ, कि अमुकराजा यज्ञ करने वाला है । उसने पत्नी से कहा 'यदि मैं उस यज्ञ में जासकता, तो वह राजा मुझे अवश्य ऋत्विज् बना लेता, और मुझे उसमें पुष्कल धन मिल जाता, पर भूख से लाचार हूं, ऐसी दशा में पहुंच नहीं सकता'

उसकी स्त्री ने कहा 'स्वामिन्! ये वे रात वाले कुलथ रक्खे हैं' तब उसने वे खालिये, और यज्ञ में चला गया। यज्ञ में जाकर उसने पहले ऋत्विजों पर प्रश्न किये, और वे चुप होगए। तब राजा ने उसका नाम जानकर उसका बहुत बड़ा आदर किया, और हरएक ऋत्विज् ने वहां ही उसके पास से बहुत कुछ सीखा।

सो यह इतना बड़ा विद्वान् और जूठा अन्न खाता है, अपना जूठा नहीं, महावत का जूठा, और तिस पर भी जब वह बासी है, तब भी, विना संकोच के खा लेता है, और वह अपने आपको पतित हुआ नहीं मानता, किन्तु उसी समय जाकर यज्ञ कराता है, क्योंकि वह उस आचार के मर्म को समझता है, और समझता है, कि वह इस तरह पतित नहीं हो सकता, न ही इससे उसका मन ज़रा भी गिरा है, वह अपने मनको उसी अपतित अवस्था में रखता हुआ कहता है, कि मैं यह तुम्हारा पानी नहीं पिऊंगा, क्योंकि जूठा है।

माता पिता का कर्त्तव्य। जात कर्म संस्कार के विषय में जो कुछ हम पूर्व लिख आए हैं। उससे पिता का कर्त्तव्य यह प्रतीत होता है, कि वह अपनी सन्तान को धर्म, विद्या और वीरता में अपने से आगे बढ़ाए। इसी तरह—

सोऽग्रएव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। सयत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मान मेव तद्भावयति। (ऐत० २।१)

वह (पिता) बच्चे को जन्म से पहले भी और पीछे भी बढ़ाता है*। सो वह जो बच्चे को जन्म से पहले भी और पीछे भी बढ़ाता है, वह वास्तव में आत्मा† (अपने आप) को ही बढ़ाता है।

मरते समय पिता की पुत्र को सौंपना। } अथातः संप्रत्तिः-यदा प्रैष्यन् मन्यते, अथ पुत्र माह 'त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक' इति। पुत्रः प्रत्याह, 'अहंब्रह्माहं यज्ञोऽहंलोक' इति। यद्वैकिञ्चानूक्तं तस्य सर्वस्यब्रह्मेत्येकता। येवैकेचयज्ञास्तेषाँ सर्वेषां यज्ञ इत्येकता। ये वैकेचलोकास्तेषाँ सर्वेषां लोक इत्येकता। एतावद्वा इदँसर्वं,

---

* पहले बीज के रूप में जब पुत्र पिता के शरीर में होता है, । तो पिता के शुभ कर्मों का संस्कार उस बीज पर होता है, फिर जब वह माता की कुक्षि में आता है, तो पिता उसका भरण पोषण करता है, और फिर जन्म के पीछे बच्चे का भरण पोषण करता है, और जन्म से पहले और पीछे के जो संस्कार हैं, उनको पूरा करता है। इस प्रकार पिता पुत्र को सर्वदा बढ़ाता है जन्म से पहले भी और पीछे भी।

† पुत्र मनुष्य का अपना आत्मा है, और पत्नी भी अपना आत्मा है। देखो ऐत० आर० २। ३। ७।

एतन्मा सर्वं सन्नयामितोऽभुनजदिति, तस्मात् पुत्रमनुशास्ति । स यदेवंविदस्मात् लोकात् प्रैति, अथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति । स यद्यनेन किञ्चदक्ष्णयाऽकृतं भवति, तस्मादेनं सर्वस्मात् पुत्रो मुञ्चति, तस्मात् पुत्रो नाम । स पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठति ।

(बृह० १।५।१७)

* अब इसके आगे सम्प्रत्ति † (कहते हैं)—जब मनुष्य समझता है, कि अब मैं मरने के निकट हूं, तो वह पुत्र को कहता है—

तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है, तू लोक है'

पुत्र उत्तर देता है—'मैं ब्रह्म हूं' मैं यज्ञ हूं, मैं लोक हूं-

---

* जैसे जन्म से पहले और पीछे के संस्कारों से प्रतीत होता है, कि माता पिता अपनी सन्तान को क्या बनाना चाहते हैं, इसी प्रकार मरने के समय की सौंपना से भी प्रतीत होता है, कि वे अपनी सन्तान से क्या कुछ आशा रखते हैं, कि उनकी सन्तान उनकी ये आशाएं पूरी करेगी।

† सम्प्रति=सौंपना, पिता अपने मरने के समय इन वचनों से अपना धर्म कर्म सौंप कर जाता है ।

जो कुछ उसने पढ़ा है, उस सारे की ब्रह्म इस शब्द में एकता है। जो कोई यज्ञ हैं, उन सब की यज्ञ इस (शब्द) में एकता है। जो कोई लोक हैं, उन सबकी लोक इस (शब्द)में एकता है। इतना ही यह सब कुछ है (जो पिता से किया गया है, (अर्थात् विद्या, यज्ञ, और लोक)* अब इस (पुत्र) ने यह सब कुछ बनकर इस लोक से मुझे बचाया है, इस प्रकार

---

* पिता ने जो उसे कहा है, कि तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है तू लोक है, और पुत्र ने इस बात को स्वीकार किया है, कि मैं ब्रह्म हूं, मैं यज्ञ हूं मैं लोक हूं, इसका क्या आशय है, सो यह इस अगली व्याख्या से स्पष्ट किया है। आशय यह है कि यहां ये तीन शब्द हैं, ब्रह्म, यज्ञ, और लोक। सो इन तीनों शब्दों से तीन बड़े भारी कर्तव्य बतलाए हैं। ब्रह्म वेद का नाम है, तू ब्रह्म है, इस वचन में पिता का यह अभिप्राय है, कि जो कुछ मैंने इस लोक में सीखा है और जो सीखना शेष रहा है, उस सब की जगह अब मैं तुझे अपना प्रतिनिधि बनाकर जाता हूं, तुम विद्या में इतना आगे बढ़ो, कि जो कुछ मैंने सीखा है, वह सब तुम्हारा सीखा हुआ हो, और तुम मुझ से बढ़कर भी सीखो। इसी प्रकार यज्ञ इस एक शब्द में वे सारे यज्ञ और परोपकार के काम आजाते हैं, जो उसने किये हैं, और करने रह गए हैं, अब उनकी जगह पुत्र को अपना प्रतिनिधि छोड़ कर इस लोक से चलता है, अर्थात् उसके ये काम उसके मरने के पीछे भी प्रवृत्त रहेंगे। और लोक इस शब्द में वे सारे लोक हैं, जो पिताने जीते हैं, और

वह समझता है* इसलिये उस पुत्र को जिसको, (पिता ने) यह अनुशासन किया है, लोक के योग्य कहते हैं,† इसीलिये पुत्र को अनुशासन करते हैं। इस रहस्य के जानने वाला पिता जब इस लोक से चलता है, तो वह इन्हीं प्राणों (मन, वाणी और प्राण) के साथ पुत्र में आवेश करता है‡। सो यदि उसने किसी छिद्र के कारण से कोई काम पूरा नहीं किया होता, तो इस सारी कमी से उसे पुत्र छुड़ाता है, इसीलिये पुत्र नाम है § वह अपने पुत्र के द्वारा ही इस लोक में

जो जीतने हैं। सो इन तीनों शब्दों में यह उपदेश है, कि ज्ञान का बढ़ाना, धर्म के कामों में आगे बढ़ना, और दुनिया में आगे बढ़ना। इन बातों में मैं तुझे अब अपना प्रतिनिधि बनाकर जाता हूं, तुम इस तरह पर इनको पूरा करो, कि तद्रूप हो जाओ, इसलिये कहा है, कि तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है, तू लोक है, सो पुत्र पिता की इस सौंपना को सिर झुकाकर स्वीकार कर लेता है।

* यह सौंपकर पिता समझता है, कि पुत्र ने मेरे कर्तव्य को अपने ऊपर उठा लिया है।

† जिस पुत्र को इस योग्य बना दिया गया है, कि वह विद्या में बढ़े, धर्म में बढ़े, और लोक में विजयशाली हो, वही पुत्र इस लोक के योग्य है।

‡ पिता का प्राण (जीवन,) अब पुत्र में आवेश करता है, वह अब पिता की जगह लेता है।

§ पुत्र, पुर्, और त्रा से बना है, पुर्=पूरा करना और

प्रतिष्ठित (कायम) रहता है* ।

पुत्र पुण्य कर्मों के लिये पिता के पीछे उसका प्रतिनिधि होना चाहिये ।

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्म-भ्यः प्रतिधीयते । अथास्याय-मितरआत्मा कृतकृत्यः वयो-गतः प्रैति (ऐत० २ । १)

अब इस (पिता) का यह आत्मा† (पुत्ररूप आत्मा) पुण्यकर्मों के (पूरा करने) के लिये इस (पिता) की जगह खड़ा हो जाता है, और इसका यह दूसरा आत्मा (पिता)

त्रा=बचाना । अर्थात् पिता की कमी को पूरा करके उस कमी से पिता को बचाता है, इसलिये पुत्र है ।

* जिसने अपने पुत्र को यह शिक्षा देकर इस योग्य बना दिया है, कि वह पुण्य कर्मों के लिये इस लोक में उस का प्रतिनिधि बनकर उसके पीछे रहे, उसको मरा हुआ नहीं समझना चाहिये, क्योंकि वह अपने पवित्र कर्मों को प्रवृत्त रखने के लिये अपने दूसरे रूप से इसी लोक में प्रतिष्ठित है।

† आत्मावैपुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ।

तू मेरा आत्मा (अपना आप) ही है पुत्र नाम रखता हुआ सो तू हे बेटा सौ बरस जी । इस आशीर्मन्त्र में यह स्पष्ट कर दिया है कि पिता और पुत्र एक ही रूप हैं । कहने में वह पिता है और वह पुत्र है ।

जो अपना कर्तव्य पूरा कर चुका है, और अपनी (आयु के पूरे परिमाण) को पहुंच गया है, चल देता है।

सचाई का व्यवहार } अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ 'भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत्, "षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ" तमहंकुमारमब्रुवं, नाहमिमं वेद। यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति। समूलो वा एष परिशुष्यति, योऽनृतमभिवदति, तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्'। स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि, क्वासौ पुरुष इति (प्रश्न० ६। १)

अब इसको (पिप्पलाद को) सुकेशा—भारद्वाज ने पूछा 'भगवन्! कोसल का राजपुत्र हिरण्यनाभ मेरे पास आया, और यह प्रश्न पूछा "हे भारद्वाज! तू सोलह कला वाले पुरुष को जानता है" मैंने उस कुमार को कहा, मैं इसे नहीं जानता। यदि मैं जानता होता, तो कैसे तुझे न बतला देता। सचमुच वह पुरुष जड़ समेत सूख जाता है जो झूठ बोलता है, सो मैं कभी झूठ कहने को तय्यार नहीं हूं। तब वह चुपचाप रथ पर चढ़कर चला गया। अब मैं उसी को

यावत आप से पूछता हूं—कि कहां वह (सोलह कला वाला) पुरुष है । १ ।

भारद्वाज उन छः ऋषियों में से एक हैं, जो पिप्पलाद के पास परब्रह्म के साक्षात् दर्शन पाने की इच्छा से पहुंचे थे । उपनिषद् हमें बतलाती है, कि यह ऋषि ब्रह्मविद्या से निरे अनभिज्ञ न थे, किन्तु अपरब्रह्म में दृढ़ श्रद्धा भक्ति वाले पहले से ही थे, केवल परब्रह्म को ढूंढना शेष था 'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाःपरं ब्रह्मान्वेषमाणाः (प्रश्न० १ । १) ब्रह्मपरायण और ब्रह्मनिष्ठ ऋषि परब्रह्म को ढूंढते हुए (आए)' तथापि यह ऋषि उसका उत्तर देने से इन्कार कर देता है जो कुछ उसने ढूंढकर अभी आप पा नहीं लिया है । और फिर झूठ के पीछे २ आने वाले खतरे को कैसी सफाई से प्रकट करता है 'सचमुच वह जड़ समेत सूख जाता है, जो झूठ बोलता है' यहां यह बात जो भारद्वाज ने कही है, यही बात एक मनोहर रचना में महिदास ने दिखलाई है—

सचाई की महिमा और झूठ से हानि } तदेतत् पुष्पं फलं वाचो यत्सत्यं। सहेश्वरो यशस्वी कल्याणकीर्तिर्भवितोः पुष्पं हि फलं वाचः सत्यं वदति । अथैतन्मूलं वाचो यदनृतं, तद्यथा वृक्ष आविर्मूलः शुष्यति स उद्वर्तते, एवमेवानृतंवदन्नाविर्मूलमात्मानं करोति, स शुष्यति स उद्वर्तते,

तस्मादनृतं न वदेद्दयेत्त्वेनेन (ऐत० आ० २।३।६)

वाणी एक वृक्ष है, सचाई इसका फल और फूल है। तब वह पुरुष यश वाला और पवित्र कीर्ति वाला बन जाता है, जो सच बोलता है, जो कि वाणी का पुष्प और फल है (क्योंकि वृक्ष की शोभा पुष्प और फल से ही होती है) अब जो झूठ है, यह इस वाणी (रूपी वृक्ष) की जड़ है। सो जैसे वह वृक्ष जिसकी जड़ नंगी होगई है, सूख जाता है और उखड़ जाता है। ठीक इसी तरह झूठ बोलता हुआ मनुष्य अपनी जड़ को नंगा कर देता है, वह सूख जाता है और उखड़ जाता है। इसलिये चाहिये कि झूठ न बोले, इस से अपने आपको बचाए।

सचाई धर्म का पूरा स्वरूप है। } सनैव व्यभवत् तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं, तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं, यद्धर्मः, तस्माद्धर्मात् परं नास्ति। अथो अबलीयान् बलीयाꣳसमाशꣳसते धर्मेण यथा राज्ञैवं। यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्, तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुः, 'धर्मं वदति' इति। धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदति' इति। एतद्ध्येवैतदुभयं भवति (बृह० १।४।१४)

वह पूरा समर्थ नहीं हुआ*, तब उसने एक और सृष्टि रची, जो मनुष्य के लिये निरा कल्याणरूप है अर्थात् धर्म। यह जो धर्म है, यह क्षत्र का क्षत्र (बल का बल) है, इसलिये धर्म से परे कुछ नहीं। हां धर्म का सहारा लेकर एक दुर्बल भी बल वाले को दबा लेता है, जैसे राजा का सहारा लेकर। यह जो धर्म है, यह वही वस्तु है जो सचाई है, इसीलिये जब कोई सच कहता है, तो लोग कहते हैं, कि 'हां यह धर्म कहता है' या जब धर्म कहता है, तो लोग कहते हैं, 'सत्य कहता है'। सो यह एक वस्तु है, जो यह दोनों रूप (धर्म और सचाई) है†।

---

* इससे पहले चारों वर्णों की सृष्टि कही है, चारों वर्णों को रचकर उसने अपने काम को समाप्त नहीं किया, किन्तु उनके लिये कल्याण वाली वस्तु की अलग रचना की और वह धर्म है।

† धर्म का लक्षण इससे बढ़कर पवित्र और कोई नहीं हो सकता। इसमें सचाई और धर्म दोनों का गौरव है। एक ही वस्तु है, जो कहने में सचाई है, वही कर्तव्य में आकर धर्म कहलाता है। सृष्टि में नियम ही सारे जगत पर शासन कर रहे हैं। जो कुछ होता है, उनके अधीन होता है। वे अटल हैं और सृष्टि के सब भागों में काम करते हैं। यही अटल सचाइयां सारे जगत को थामे हुए हैं, 'सत्येनोत्तभिता भूमिः' सत्य से पृथिवी थमी हुई है। जिस तरह यह बाह्य जगत को थामे हुए हैं, इसी तरह अध्यात्म जगत को थामे

सचाई के व्यवहार वाले ही चन्द्र लोक को प्राप्त होते हैं। } तेषा मेवैष ब्रह्मलोको, येषां तपो ब्रह्मचर्यं, येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् (प्रश्न० १। १५)

उन्हीं के लिये यह ब्रह्मलोक* है, जिनके तप और ब्रह्मचर्य है, और जिनमें सचाई स्थिर रहती है।

और जिनमें कोई भी झूठ और छल कपट नहीं वे ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं। } तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको, न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति (प्रश्न० १। १। १६)

उनके लिये यह धूलि से रहित (शुद्ध) ब्रह्मलोक है जिनमें कोई कुटिलता नहीं, कोई झूठ नहीं और कोई छल नहीं।†

सचाई ब्रह्मप्राप्ति का साधन है। } सत्येन लभ्यस्तपसाह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

हुए हैं, इनके अनुकूल चलना ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल चलना है। और यही हमारे बल और वृद्धि का कारण है।

* चन्द्रलोक जो पितृयाण मार्ग से प्राप्त किया जाता है।

† लब्ध पुरुषों में भी किसी सूक्ष्म अंश में झूठ आदि विद्यमान रहते हैं। असली सच्चा व्यवहार उनका है, जिनके किसी व्यवहार में कुटिलता नहीं, झूठ नहीं, और कभी भी किसी अंश में भी अपने आपको उस दूसरे रूप में प्रकाशित नहीं करते, जो स्वयं हैं नहीं।

अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः (मुण्डक० ३ । १ । ५)

सचाई, तप, यथार्थज्ञान और ब्रह्मचर्य से यह आत्मा सदा पाया जाता है, जो शरीर के अन्दर शुभ्रज्योतिर्मय है, जिसको वे यतिजन देखते हैं, जिनके दोष क्षीण होगए हैं।

अन्त में सचाई की ही जय होती हैं।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः । येनाक्रमन्त्यृषयोह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् (मुण्ड० ३ । १ । ६)

सचाई ही जीतती है, झूठ नहीं। सचाई से देवयानमार्ग फैला हुआ है, जिस मार्ग से ऋषि लोग जो (लौकिक) कामनाओं से ऊपर हैं, वहां पहुंचते हैं, जहां वह सचाई का परमनिधि (ब्रह्म) है।

अन्त में हम तैत्तिरीय उपनिषद् में से एक पूरा अनुवाक उद्धृत करते हैं, जो उस समय के सामाजिक जीवन का पूरा चित्र है। जिसमें उनके धार्मिक जीवन का भी चित्र है।

घरको वापिस होते हुए शिष्य को जीवनयात्रा के लिये आचार्य के उपदेश

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मंचर । स्वाध्याया न्मा-

प्रमदः । आचार्याय प्रियं धन माहृत्य प्रजातन्तुं माऽव्यच्छेत्सीः । सत्यान्नप्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवोभव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानिकर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नोइतराणि । यान्यस्माक ँ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि । नोइतराणि । येकेचास्मच्छ्रेया ँ सो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः। आलूक्षा धर्म-

कामाःस्यु । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । आलूक्षा धर्मकामाःस्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः । एषआदेश एषउपदेशः । एषावेदोपनिषद् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमुचैतदुपास्यम् (तै० १ । ११)

वेद पढ़ा कर अचार्य शिष्य को अनुशासन करता है 'सत्य बोलो ! धर्म का आचरण करो ! स्वाध्याय से प्रमाद न करो ! (नित्य के स्वाध्याय को कभी मत भूलो) ! आचार्य के लिये प्यारा धन लाकर (विद्या दान के योग्य दक्षिणा देकर) सन्तान के तागे (सिलसिले) को मत काटो (गृहस्थ में प्रवेश करके, सन्तान के उस सिलसिले को जो पूर्वजों से चला आरहा है, प्रवृत्त रक्खो) ! सचाई से कभी प्रमाद न करना !* धर्म से कभी प्रमाद न करना ! कुशल (जो कुछ उपयोगी है उस) से कभी प्रमाद न करना ! ऐश्वर्य के

---

* भूल कर भी तनिक भी झूठ न बोलना, इत्यादि प्रकार से बल देने के लिये फिर दुबारा सत्य आदि का ग्रहण किया है ।

(बढ़ाने के) लिये कभी प्रमाद न करना ! स्वाध्याय * और प्रवचन से कभी प्रमाद न करना ; देवकार्य और पितृकार्य (तुम्हारा जो कर्तव्य देवताओं की ओर है और जो पितरों की ओर है, उस) से प्रमाद न करना ! माता को देवता की नाईं मानो † पिता को देवता की नाईं मानो ! आचार्य को देवता की नाईं जानो । अतिथि को देवता की नाईं जानो ! जो कर्म दोष रहित हैं, उनका सेवन करो, दूसरे (कर्मों का) नहीं ! जो हमारे काम नेक हैं, उनका सदा अनुष्ठान करो,

---

* यद्यपि 'स्वाध्यायान्मा प्रमादः' इसी से स्वाध्याय में प्रमाद रहित होने के लिये बल दिया है, तथापि सब कर्तव्यों से स्वाध्याय में बढ़कर प्रयत्न करना चाहिये, इस प्रयोजन के लिये फिर स्वाध्याय कहा है ।

† अक्षरार्थ यह है—माता (रूपी) देवता वाले बनो। अर्थात् माता, पिता, आचार्य और अतिथि तुम्हारे लिये देवता के तुल्य हों । तुम प्रातःकाल उठकर जब अपने माता पिता का दर्शन करते हो, तो जानो कि अपने देवता का दर्शन किया है । तुम्हारे माता पिता चिरञ्जीवी हों, इसके लिये कृतज्ञ होकर सदा प्रार्थी रहो । 'मानो वधीः पितरं मोत मातरम्' (ऋग्वेद) क्योंकि जब तक वे जीते हैं, तुम्हारे घर में तुम्हारे पूज्य देवता हैं, । इसी प्रकार आचार्य और अतिथि जब तुम्हारे घर आते हैं, तो तुम्हारे घर देवता पधारते हैं । मन, वाणी और कर्म से उनकी सेवा करो, कभी प्रमाद से भी उनका अनिष्ट न करो ।

दूसरे नहीं। (अपने स्थान पर आप) जो कोई हम में से उत्तम ब्राह्मण हैं, उनको आसन देने से आराम दो। जो कुछ दो, श्रद्धा से दो, अश्रद्धा से मत दो। खुशी से दो! विनीत-भाव से दो! भय से दो! प्रेम से दो*! और यदि तुझे किसी धर्मकार्य में संदेह हो, वा किसी वृत्त (आचार व्यवहार) में सन्देह हो, तो जो वहां ब्राह्मण यथार्थ निर्णय करने वाले हैं, चाहे वे (राजा आदि की ओर से उस काम पर) नियुक्त हों, और चाहे अनियुक्त (स्वतन्त्र) हों, रूखे न हों, (प्रेम से बर्तने वाले हों) और धर्म से प्यार करने वाले हों (अर्थ और काम में आसक्त न हों) जैसे वे (ब्राह्मण) उस (विषय) में बर्तें, वैसे तू भी वर्त! और जो पुरुष अभिशस्त (जिन पर संदिग्ध दोष लगाया गया है) हैं, उनके विषय में भी जो वहां ब्राह्मण यथार्थ निर्णय करने वाले नियुक्त वा अनियुक्त हों, रूखे न हों, और धर्म से प्यार करने वाले हों, जैसे वे उनके विषय में वर्तें, वैसे तू उनमें वर्त! यह (तुम्हारे लिये) आदेश (विधि) है, यह (हमारा) उपदेश है। यह वेद की उपनिषद् (रहस्य, गुह्यतात्पर्य, परम तात्पर्य) है, यह अनुशासन (शिक्षा) है, इस प्रकार तुम्हें सदा अनुष्ठान करना चाहिये। ठीक इसी प्रकार यह सदा अनुष्ठान के योग्य है।

---

* यहां दान में कितना आदर दिखलाया है, सचमुच जो कमाता है, और देता है, उसी की कमाई सफल है, और 'केवलाघो भवते केवलादी' (ऋ० १०।११।७) अकेला खाने वाला निरा पापी बनता है।

सातवां अध्याय ।

---:-※-:---

उपासना और उसके फल के वर्णन में ।

---:-o-:---

उपासना का लक्षण } जो लक्ष्य अपने सामने है, उसी में लौलीन होजाना, मन की वृत्ति को उसी एक लक्ष्य पर ठहरा देना, इसका नाम उपासना है। यहां वह लक्ष्य परमात्मा है ।

ओंकार के द्वारा पर और अपर ब्रह्म की उपासना और उसका फल । } अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ 'सयोहवैतद्भगवन्! मनुष्येषुप्रायणान्तमोंकारम-भिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति, तस्मै स होवाच (प्रश्न० ५।१)

तब शैब्य-सत्यकाम ने इसको (पिप्पलाद) को पूछा, हे भगवन् ! यदि कोई मनुष्यों में से मरण पर्यन्त (सारी आयु) ओंकार का ध्यान करे* तो वह उससे किस

---

* जिन नामों से परमात्मा का ध्यान करना चाहिये, उनमें से 'ओम्' की महिमा बहुत बड़ी है । प्रश्नोपनिषद् के

लोक* को जीतता है ? उसको उसने कहा-। १ ।

एतद्वै सत्यकाम ! परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः। तस्माद् विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति

हे सत्यकाम यह सचमुच पर और अपरब्रह्म है, जो ओंकार है†; इसलिये वह, जो इसको जानता है, वह केवल

पांचवें प्रश्न में उसी का वर्णन है। अ, उ, म्, इन तीन मात्राओं के मेल से 'ओम्' बना है, यहां इनकी अलग २ महिमा दर्शाई है।

* लोक तीन हैं, मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक। इन तीनों के जीतने के अलग २ उपाय ये हैं, इस मनुष्यलोक को पुत्र से ही जीत सकते हैं, किसी दूसरे कर्म से नहीं, कर्म से पितृलोक को और विद्या (उपासना) से देवलोक को जीत सकते हैं (देखो बृह० १।५।१६) इनमें से मनुष्यलोक से श्रेष्ठ पितृलोक, और पितृलोक से श्रेष्ठ देवलोक है। धार्मिक और वीर सन्तति से पुरुष मनुष्यलोक को जीतता है (मनुष्यलोक उसके उपभोग के लिये होता है) कर्म से पितृलोक को, और उपासना से देवलोक को । सो यहां ओंकार की उपासना में यह महिमा दिखलाई है, कि इसकी एक मात्रा की उपासना में ही उपासक मनुष्यलोक को जीत लेता है, दो मात्रा की उपासना में पितृलोक को, और तीनों मात्रा की उपासना में देवलोक को जीत लेता है।

† ओंकार पर और अपरब्रह्म की प्राप्ति का साधन है;

इसी सहारे से दोनों (पर, अपर) में से एक को पा लेता है।

स यद्येक मात्र मभिध्यायीत, स तेनैव संवेदितस्तूर्ण मेव जगत्या मभि सम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोक मुपनयन्ते, स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ।३। अथ यदि द्विमात्रेण, मनसि सम्पद्यते सो अन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते, स सोमलोकं, स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते।४।यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुष मभिध्या-

क्योंकि यह अपने उपासक को अपरब्रह्म की प्राप्ति द्वारा परब्रह्म तक पहुंचाता है। और यह साधन पर और अपरब्रह्म की प्राप्ति का असंदिग्ध साधन है, इसलिये ऐसे जोर से कहा है कि यह सचमुच पर और अपरब्रह्म है जो ओंकार है। जहां कहीं सच्चे साधन पर बल देने की आवश्यकता होती है, वहां उसे साधन न कहकर साध्य के साथ एकरूप बना देते हैं, जैसे 'आयुर्वैघृतम्' यह सचमुच आयु है, जो घी है। तात्पर्य यह है, कि घी से आयु बढ़ती है इसमें तनिक सन्देह नहीं। इसी प्रकार ऊपर के वचन का यह अभिप्राय है, कि ओंकार पर और अपरब्रह्म की प्राप्ति का सच्चा साधन है, इस में तनिक सन्देह नहीं।

यीत, स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः यथा पादोदर-स्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं हवै स पाप्मना विनिर्मुक्तः; स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं, स एतस्माज्जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुष मीक्षते।५।

यदि वह एक मात्रा (अ) वाले ओम्) का ध्यान करे,* तब वह उसी से प्रकाशित किया हुआ † जल्दी ही पृथिवी की ओर जाता है। उसको ऋचाएं मनुष्यलोक में ले

---

* पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ, यह तीनों लोक हैं, प्रजापति ने इन तीनों लोकों में से ऋचा, यजु, और साम यह तीन प्रकार के (चारों वेदों के) मन्त्र सार के तौर पर निचोड़े हैं, फिर ऋचा, यजु और साम इन तीनों में से भी भूः, भुवः, स्वः, यह तीन व्याहृतियें सार के तौर पर निचोड़ी हैं, और फिर इन तीनों में से अ, उ, म् यह तीनों मात्राएं सार के तौर निचोड़ी हैं। (देखो-छान्दो० २। २३ । ३—४) इसी लिये 'अ' का सम्बन्ध ऋचाओं से और पृथिवीलोक से है, 'उ' का यजुओं से और अन्तरिक्ष से, 'म्' का सामों से और द्यौ लोक से है। एक मात्रा के ध्यान से यह अभिप्राय है कि अकार मात्र का ध्यान करे, अ से जो महिमा (मनुष्यलोक-सम्बन्धी) अभिप्रेत है, वही उसके लक्ष्य में हो।

† इस उपासना की वासनाओं से चमकते हुए अन्तःकरण वाला।

आती हैं*, वह वहां तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से सम्पन्न हुआ महिमा को अनुभव करता है। ३। और यदि वह दो मात्रा (अ+उ) वाले (ओम्) से (ध्यान करे) तो वह मन में पहुंचता है, और उसे यजुमन्त्र अन्तरिक्ष की ओर ऊपर

---

*जो ऋचाओं का स्वाध्याय करता है, उसको ऋचाएं मनुष्यलोक में महिमा को अनुभव करने वाला जन्म देती हैं। ऋचाओं के स्वाध्याय से शुद्ध वासनाएं जो उसके अन्तः-करण में जमती हैं, वही इसको इस उत्तम जन्म की ओर लाती हैं, इसलिये यह कहा जाता है, कि ऋचाएं उसको इस जन्म में लेजाती हैं। इसी प्रकार यहां भी 'अ' ऋचाओं का सार है, उसकी उपासना से वह वासनाएं जमती हैं, जो ऋचाओंके स्वाध्याय से उत्पन्न होती हैं। दूसरी वासनाओं से भेद करने के लिये इन वासनाओं का नाम ऋचाएं हैं। सो ये ऋचाएं उसे मनुष्य लोक में लाती हैं। अर्थात् उस साधक को पृथिवी में मनुष्य जन्म ही मिलता है, जहां वह उत्तम कुल में जन्म लेकर तप, ब्रह्मचर्य, और श्रद्धा से सम्पन्न हुआ महिमा को अनुभव करता है। उसको उसके पिछले संस्कार फिर उसी उपासना में लगाते हैं, और वह अन्ततः अपने योग को पूर्ण कर लेता है, योगभ्रष्ट कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

† जैसे अ का सम्बन्ध ऋचाओं से और पृथिवी से है, इसी प्रकार उ का यजुओं से और अन्तरिक्ष से है, अन्त-रिक्ष में पहुंचकर वे चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं, चन्द्रलोक का अध्यात्म सम्बन्ध मन से है।

लेजाते हैं चन्द्रलोक में, वह चन्द्रलोक में ऐश्वर्य भोग कर फिर वापिस आता है। ४। जो फिर इसको तीन मात्रा (अ, उ, म्,) वाले, ओम् इस पूरे अक्षर से परम पुरुष का ध्यान करे, वह तेज में, सूर्य में, पहुंचा हुआ, जैसे सांप केंचुली से छूट जाता है, इस प्रकार वह पाप से छूट जाता है, और उसे साम मन्त्र ऊपर ब्रह्मलोक* को लेजाते हैं, वह वहां यह जो जीवघन† सब से परे है, इससे भी जो परे, सारे ब्रह्माण्ड में स्थित, परम पुरुष‡ है, उसको देखता है। ५।

इसी प्रकार अन्यत्र भी उपनिषदों में ओंकार को अपर और परब्रह्म की प्राप्ति का साधन बतलाया है, जैसे—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् । १५ ।

---

* हिरण्यगर्भ का लोक, जिस को सत्यलोक कहते हैं।

† जीवघन=जीवन का भरा हुआ एक पिण्ड, जो सारे देवताओं का एक जीवन है, और जो इस सारी रचना के पीछे है।

‡ परम पुरुष, परब्रह्म, अर्थात् जिसने ओंकार के द्वारा परम पुरुष का ध्यान किया है, वह इस उपासना से सूर्य द्वारा ब्रह्मलोक में जाकर परब्रह्म के दर्शन करता है। यही क्रममुक्ति कहलाती है सो इस प्रकार यहां ओंकार को अपर और परब्रह्म की प्राप्ति का साधन बतलाया है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।
१६ । एतदालम्बनँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोकेमहीयते । १७ ।

(कठ० १)

सारे वेद जिस पद का अभ्यास करते हैं, सारे तप जिसका प्रतिपादन करते हैं, जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य का सेवन करते हैं, वह पद मैं तुझे संक्षेप से कहता हूं, वह 'ओम्' यह पद है । १५ । यही अक्षर (अपर) ब्रह्म है, यही अक्षर पर (ब्रह्म) है । इसी अक्षर को जानकर जो जो कुछ चाहता है, वह वही कुछ पाता है । १६ । यही श्रेष्ठ सहारा है, यही सब से बढ़कर सहारा है, इस सहारे को पकड़ कर ब्रह्मलोक में पूजा जाता है । १७ ।

अङ्गिरस् ऋषि शौनक को पहले परमात्मा के स्वरूप का उपदेश इस प्रकार करते हैं, कि—

आविः सन्निहितं गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रै तत् समर्पितम् । एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् । १ । यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणुयस्मिँ ल्लोका

निहिता लोकिनश्च । तदेतदक्षरंब्रह्म स प्राण-स्तदु वाङ्मनः । तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि । २ । (मुण्ड० २ । २)

ब्रह्म (छिपा हुआ नहीं, वह) प्रकट है, और निकट है, हृदय में रहता है, और इतना बड़ा आधार है, कि जो चलता है, सांस लेता है और आंख झपकता है वा जो कुछ व्यक्त अव्यक्त है, सब इसी में प्रोया हुआ है । तुम उसी को जानो। वही जो लोगों की समझ से परे है, वही इस दुनिया में चुनने योग्य है । १ । वह प्रकाश स्वरूप है, सूक्ष्म से सूक्ष्म है, सारे लोक, और लोकों में रहने वाले, सब उसी के आश्रय हैं. उसी के आश्रय जीवन, वाणी और मन हैं । वह अविनाशी ब्रह्म सत्य है और अमृत स्वरूप है । हे सोम्य उसी को तू बींधने योग्य (निशाना बनाने योग्य) जान । २ ।

यह उपदेश करके बतलाया है, कि उसके बेधने का प्रकार यह है—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा-निशितं संधयीत । आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य ! विद्धि । ३ । प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्य मुच्यते । अप्र-

मत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् । ४ ।

(मुण्ड० २ । २)

उपनिषदों के (ज्ञान के) धनुष को पकड़कर जो एक बड़ा भारी अस्त्र है, उसमें उपासना (लगातार ध्यान) से तेज़ किये हुए तीर को जोड़ो । और फिर केवल उसी सत्ता में लगाया हुआ जो चित्त है, उससे इसको खींच कर उस अविनाशि लक्ष्य (निशाने) को बींधो । ३ । ओंकार धनुष है, आत्मा तीर है, और ब्रह्म उसका लक्ष्य कहलाता है, इस को एक अप्रमत्त (पूरा सावधान) पुरुष बींध सकता है, और तब वह तीर की नाईं (जो लक्ष्य पर लगकर उसके साथ एक रूप हो गया है, इस प्रकार वह ब्रह्म के साथ)* तन्मय (तद्रूप) हो जाए । ४ ।

इसी प्रकार श्वेताश्वतर ऋषि ने इस विषय में अपने अनुभव को इस रीति पर प्रकट किया है ।

वन्हेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः । स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे । १३ । स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ।१४। (श्वेता० १)

---

* अन्दर बाहर सब कुछ भूल कर ।

जैसे अग्नि लकड़ी के अन्दर ही है, पर उसकी मूर्ति बाहर नहीं दीखती, और न ही उसके चिन्ह का नाश होता है। वह (अग्नि) फिर लकड़ी से ग्रहण की जाती है (अर्थात् लकड़ीयों के रगड़ने से उनमें से छिपी हुई अग्नि प्रकाशित हो पड़ती है) ऐसे ही 'ओम्' के द्वारा आत्मा इस देह में ग्रहण किया जाता है। १३। अपने देह को (नीचे की) अरणि (लकड़ी) बनाकर और ओम् को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान रूपी रगड़ के अभ्यास से अपने इष्टदेव (परमात्मा) के दर्शन करे, जैसे छिपे हुए अग्नि के (अरणियों की रगड़ से दर्शन होते हैं)।

ओम् का उपासक अन्त वेला में ओम् पर ध्यान धरता है, और मूर्धा की नाड़ी से निकल कर ब्रह्म लोक में पहुंचता है।

स ओमिति वा होद्रामीयते। स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति। एतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम्। ५। तदेष श्लोकः--शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति। ६।

(छान्दो० ८। ६)

अथवा वह ओम् पर ध्यान जमाता हुआ जाता है

(जब उसने ब्रह्मलोक को जाना होता है, जो उसने उपासना द्वारा जीता है)। अब जितनी देर मन फैंका जाए, उतनी देर में वह सूर्य में पहुंच जाता है। यह (सूर्य) (ब्रह्म)लोक का द्वार है, जो ज्ञानियों के लिये खुला है, और अज्ञानियों के लिये बंद है। ५। इस पर यह श्लोक है, एक सौ एक हृदय की नाड़ियां हैं, उनमें से एक मूर्धा की ओर निकली है, उस नाड़ी से ऊपर आता हुआ (ज्ञानी) अमृतत्त्व को प्राप्त होता है, दूसरी (नाड़ियां) निकलने में भिन्न २ गति (देने) वाली होती हैं *। ६।

अध्यात्म और अधि दैवत उपासना। परमात्मा हमारे अन्दर और बाहर परिपूर्ण है, सब जगह से उनकी शक्ति का प्रकाश हो रहा है, इसलिये हम उनका ध्यान अन्दर और बाहर दोनों जगह कर सकते हैं। इसी आशय से उपनिषदों में अध्यात्म और अधिदैवत दो प्रकार की उपासना बतलाई हैं। ब्रह्म की वह महिमा जो सूर्य द्वारा प्रकट होती है, उस महिमा को दिखलाते हुए सूर्य में उसकी उपासना बतलाई है (छान्दो० १। ६। ७) और जो महिमा आंख द्वारा प्रकट होती है, उस महिमा को दिखलाते हुए आंख में उसकी उपासना बतलाई है (छान्दो० १। ७। ५) यही अभिप्राय सर्वत्र अध्यात्म और अधिदैवत उपासनाओं का है।

उपासना में संकल्प की दृढ़ता। उपासना में जैसे एक ही लक्ष्य पर चित्त को ठहरा दिया जाता है, इसी

* देखो—कठ० ५।६ और मिलाओ—प्रश्न० ३।६-७॥

प्रकार दूसरी बात इसमें यह आवश्यक है, कि उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उपासक का दृढ़ संकल्प हो, और उसको पूरा विश्वास हो, कि मैं इस लक्ष्य को अवश्य प्राप्त कर लूंगा। संशय का गन्ध भी उसके चित्त में न हो, तब वह निःसन्देह बहुत जल्दी ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा। शाण्डिल्य ऋषि के उपदेश का ज़ोर इसी एक बात पर है, जैसाकि कहा है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो, यथाक्रतुरस्मिँल्लोके भवति, तथेतः प्रेत्य भवति। स क्रतुं कुर्वीत।१। मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्पआकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः।२। एषमआत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वायवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा। एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्योलोकेभ्यः।३। सर्वकर्मा सर्वकामः सर्व-

गन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः, एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति हस्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः।

(छान्दो० ३।१४)

शान्त होकर पुरुष यह उपासना करे, कि यह सब ब्रह्म है, क्योंकि यह उस (ब्रह्म) से उत्पन्न होता है, उसमें लीन होता है और उसमें जीता है*। अब पुरुष क्रतुमय है† (अपने इरादों का बना हुआ, अपनी इच्छा और विश्वास का बना हुआ है) यह जैसे इरादों वाला इस लोक में होता है, वैसा ही आगे जाकर बनता है जब वह यहां से चल देता

---

* तज्जलान्=तत्+ज+ल+अन्, 'तत्' का सम्बन्ध 'ज, ल, अन्' के साथ अलग २ है। तज्ज=उससे उत्पन्न होता है, तल्ल=उसमें लीन होत है, और तदन्=उसमें प्राण लेता है, जीता है।

† अच्छे वा बुरे जैसे पुरुष के इरादे होते हैं, वह वैसा ही बन जाता है। उसके इरादे जितने ऊंचे होते हैं, उतना ही वह ऊंचा चढ़ता है। सो जब वह दुनिया की कामनाओं और रसों को छोड़कर उस ब्रह्म की कामना करता है, जहां सारी कामनाएं पूरी होती हैं और सारे रस मात हो जाते हैं, तब वह उस ब्रह्म को प्राप्त होता है।

है। इसलिये उसको यह इच्छा और विश्वास (इरादा) करना चाहिये कि— । १ ।

यह मेरा (अन्तर्यामी) आत्मा, जो मनोमय (विज्ञानमय) है, प्राण उसका शरीर है, प्रकाश उसका स्वरूप है, उसके संकल्प सच्चे हैं, उसका स्वरूप आकाश की नाईं (व्यापक और अदृश्य) है, सारे कर्म, सारी कामनाएं, सारे गन्ध और सारे रस उसके हैं, वह इस समस्त को घेरे हुए है, वह कभी बोलता नहीं है, वह बेपरवाह है । २ ।

यह मेरा आत्मा है हृदय के अन्दर जो धान से छोटा है, जौ से छोटा है, सिमाक (सवांक) से छोटा है, सिमाक के चावल से भी छोटा है ।

यह मेरा आत्मा है हृदय के अन्दर, जो पृथिवी से बड़ा है, अन्तरिक्ष से बड़ा है, द्यौ से बड़ा है, इन सब लोकों से बड़ा है । ३ ।

सारे कर्म, सारी कामनाएं, सारे गन्ध और सारे रस उसके हैं, वह इस सबको घेरे हुए हैं, वह कभी बोलता नहीं, वह बेपरवाह है । यह मेरा आत्मा है, हृदय के अन्दर, यह ब्रह्म है । इस शरीर से अलग होकर मैं इसको प्राप्त हूंगा, यह जिसका पूर्ण विश्वास है और कोई सन्देह नहीं, (वह उसे अवश्य पालेता है) यह शाण्डिल्य ने कहा है, शाण्डिल्य ने कहा है । ४ ।

दृढ़ संकल्प के लौकिक फल — शाण्डिल्य विद्या में जो यह नियम प्रकट किया है, 'क्रतुमयःपुरुषः' पुरुष अपने इरादों

का बना हुआ है। यह नियम जैसा अलौकिक फलों के लिये अपनी शक्ति दिखलाता है, (जैसाकि इसी शाण्डिल्य विद्या में मरने के पीछे ब्रह्म की प्राप्ति इस दृढ़ संकल्प का फल दिखलाया है,) वैसे ही यह नियम लौकिक फलों के लिये अपनी अद्भुत शक्ति दिखलाता है। छान्दोग्य ३। १६ में यह बतलाया है, कि एक दृढ़ संकल्प रखता हुआ पुरुष अपने जीवन को ११६ बरस तक पहुंचा लेता है। उसका सारांश यह है, कि पुरुष अपने आपको यज्ञरूप समझे और यज्ञरूप ही बनाए, उस की यह दृढ़ इच्छा हो, कि मैं इस जीवन को यज्ञरूप बनाऊंगा। अर्थात् परोपकार की लड़ी में परो दूंगा। सो वहां यह कहा है 'पुरुषो वाव यज्ञः' पुरुष सचमुच यज्ञ है। अब जब पुरुष ने अपने आप को यज्ञरूप समझ लिया तो फिर उस को इस यज्ञ के सम्पूर्ण करने का दृढ़ संकल्प करना चाहिये, वह संकल्प इस तरह पर है।

सोमयज्ञ के तीन सवन होते हैं, प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन। प्रातः सवन में गायत्री छन्द का प्रयोग होता है, गायत्री छन्द २४ अक्षर का है। प्रातःसवन के देवता वसु हैं। माध्यन्दिन सवन में त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग होता है, त्रिष्टुप् छन्द ४४ अक्षर का है। माध्यन्दिन सवन के देवता रुद्र हैं। तृतीय सवन में जगती छन्द का प्रयोग होता है, जगती छन्द ४८ अक्षर का है। तृतीय सवन के देवता आदित्य हैं।

सो उस पुरुष को जो अपने आपको यज्ञ मान रहा है,

इस यज्ञ के सम्पूर्ण होने के लिये अपनी आयु के तीन सवन मानने चाहियें। विधियज्ञ में प्रातःसवन में गायत्री छन्द का प्रयोग होता है, जो २४ अक्षर का है। सो पुरुष को चाहिये, कि अपनी आयु के पहले २४ वर्षों को इस यज्ञ का प्रातःसवन माने। विधियज्ञ में प्रातःसवन के मालिक वसु हैं, यहां पुरुष यज्ञ में उनकी जगह प्राण (इन्द्रिय) हैं। अब यदि इस प्रातः सवन (२४ वर्ष) में कोई रोग उसे तपाए (अर्थात् किसी रोगरूप विघ्न से इस पुरुषयज्ञ में विघ्न होता दीखे) तो वह दृढ़ निश्चय से प्राणों (इन्द्रियों) को कहे, हे प्राणो ! तुम इस यज्ञ में वसु हो, प्रातःसवन के मालिक हो, इस की रक्षा करना तुम्हारा काम है, तुम अपने सवन के रक्षक बनो, विघ्न (रोग) को दूर हटाओ, और अपने इस सवन को रक्षापूर्वक दूसरे सवन के साथ मिला दो। ऐसे दृढ़ विश्वास से जब वह प्राणों को रोग की निवृत्ति के लिये प्रेरता है, तो वह उस से बच निकलता है, और नीरोग हो जाता है, क्योंकि 'क्रतुमयः पुरुषः' पुरुष क्रतुमय है (छान्दो० ३। १४। १)।

अब विधियज्ञ में प्रातःसवन के पीछे दूसरा माध्यन्दिन सवन आरम्भ होता है। इसमें त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग होता है, जो चवालीस अक्षर का है। सो पुरुष को भी अपने पहले चौबीस बरस प्रातःसवन के भोग कर उस के आगे चवालीस बरस अर्थात् अड़सठ बरस की आयु तक अपना माध्यन्दिन सवन मानना चाहिये। विधियज्ञ में माध्यन्दिन सवन के मालिक रुद्र हैं। यहां पुरुषयज्ञ में उन की जगह प्राण हैं। सो यदि इस माध्यन्दिन सवन में कोई रोग उसे तपाए, तो वह

दृढ़ निश्चय से प्राणों को कहे, हे प्राणो ! तुम इस यज्ञ में रुद्र हो, इस दूसरे सवन के मालिक हो । इस की रक्षा करना तुम्हारा काम है, तुम अपने सवन के रक्षक बनो, विघ्न को दूर हटाओ, और अपने इस सवन को रक्षापूर्वक तीसरे सवन के साथ मिला दो । ऐसे दृढ़ विश्वास से जब वह प्राणों को रोग की निवृत्ति के लिये प्रेरता है, तो वह उस से बच निकलता है और नीरोग हो जाता है ।

अब विधि यज्ञ में माध्यन्दिन सवन के पीछे तृतीय सवन आरम्भ होता है । इसमें जगती छन्द का प्रयोग होता है, जो अड़तालीस अक्षर का है । सो पुरुष को भी अपनी आयु के अड़सठ बरस भोगकर उस के आगे अड़तालीस बरस तक अर्थात् एक सौ सोलह बरस की आयु तक अपना तृतीय सवन मानना चाहिये । विधियज्ञ में तृतीयसवन के मालिक आदित्य हैं । यहां पुरुषयज्ञ में उनकी जगह प्राण हैं । सो यदि इस तृतीयसवन में कोई रोग उसे तपाए, तो वह दृढ़ निश्चय से प्राणों को कहे, हे प्राणो ! तुम इस यज्ञ में आदित्य हो, इस तीसरे सवन के मालिक हो, इस की रक्षा करना तुम्हारा काम है, तुम अपने सवन के रक्षक बनो, विघ्न को दूर हटाओ, और अपने इस सवन को पूरी आयु तक फैलाओ (अर्थात् यज्ञ को समाप्त करो) । ऐसे दृढ़ विश्वास से जब वह प्राणों को रोग की निवृत्ति के लिये प्रेरता है, तो वह उस से बच निकलता है, और नीरोग हो जाता है । इस तीसरे सवन को पूर्ण कर के यज्ञ सम्पूर्ण होता है । सो वह, जो अपने जीवन को यज्ञमय बना कर दृढ़ विश्वास रखता है, कि अब उस के लिये

कोई अपमृत्यु नहीं है, वह मृत्यु को दबा कर अवश्य उस यज्ञ को पूर्ण करे गा। यह विश्वास महिदास ऐतरेय ने अपने जीवन में सत्य कर के दिखलाया है। जब उसे रोग ने आकर दबाया, तो उस ने कहा :—

'स किं म एतदुपतपसि, योऽहमनेन न प्रेष्यामीति'।

हे रोग! क्या तू मुझे यह तपा रहा है, मैं इस से नहीं मरूं गा।

उपनिषद् कहती है। कि—

'सह षोडशं वर्षशतमजीवत्'।

वह एक सौ सोलह बरस जीता रहा।

यह मार्ग अब भी सब के लिये खुला है। जो चाहता है, वह चले, और उस का अमृतफल लाभ करे, जैसा कि उपनिषद् कहती है—

प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति, य एवं वेद।

जो ऐसा जानता है (ऐसे निश्चय वाला है) वह एक सौ सोलह बरस जीता है।

दृढ़ संकल्प के सहायक } पर यह ध्यान रखना चाहिये, कि जहां एक ओर किसी सफलता के लिये दृढ़ संकल्प होने की आवश्यकता है, वहां दूसरी ओर वैसी सफलता को प्राप्त करने वाले जीवन को ढालने की भी

आवश्यकता है। जैसा कि यहां ही दीर्घ आयु के लिये पुरुष को यज्ञरूप बनाने का यह उद्देश्य है, कि वह अपने आप को यज्ञ के सदृश बनाए। और वह सादृश्य अन्त में इस प्रकार दिखलाया है कि जैसे विधियज्ञ में दीक्षा और उपसदें होती हैं, वैसे यहां दीक्षा और उपसदा क्या हैं, इस के उत्तर में कहा है :—

स यदाशिशिषति, यत्पिपासति, यन्न रमते, ता अस्य दीक्षाः। १। अथ यदश्नाति, यत् पिबति, यद् रमते, तदुपसदैरेति। २।

(छान्दो० ३। १७। १—२)

जब कभी वह भूखा होता है वा प्यासा होता है (भूख प्यास सहता है) वा खुशियों से अलग रहता है, यह इस की दीक्षा हैं। १। और जो खाता पीता है, और खुशियें भोगता हैं, यह उसका उपसदों* के बराबर हैं। २।

इस संसार में नर्मी और सख्ती के दिन सब पर आते हैं। धीर पुरुष वह है, जो सख्ती के दिनों को धैर्य के साथ काटता है, घबरा नहीं जाता, ऐसे पुरुष के लिये सख्ती, सख्ती नहीं रहती, क्योंकि वह उस के सहने के लिये सदा तय्यार रहता है। उपनिषद् हमें बतलाती है, कि तुम पहले से ही इन दिनों

---

* उपसद् के दिनों में यजमान को दूध पीने की आज्ञा है, इस लिये खाने पीने आदि के सुख को उपसदों से उपमा दी है॥

के लिये तय्यार रहो, क्योंकि तुम यज्ञरूप हो, और यह तुम्हारी दीक्षा होगी। इसी के अर्थ हैं हालमस्त होना, जो यहां उपनिषद् हमें सिखलाती है। यदि तुम खाते पीते और खुशियां मनाते हो, तो समझो, कि हम यज्ञ की उपसदा पूरी कर रहे हैं, और यदि भूख प्यास सहते हो वा खुशियों से अलग होते हो, तो जानो कि हम इस यज्ञ की दीक्षा पूरी कर रहे हैं। निदान सब अवस्थाओं में तुम मस्त रहो। बृहदारण्यक में भी ऐसे ही धैर्य की प्रबल शिक्षा दी गई है—

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते (५।११।१)

यह परम तप है, जो रोगी हुआ तपता है।

अर्थात् बीमारी को तप समझे, न निन्दे न निराश हो, और उस के दुःख को ऐसा ही ध्यान करे, जैसा कि तप करने में होता है।

सो इस प्रकार जो द्वन्द्व सहन करता है, अर्थात् सर्दी गर्मी नर्मी सख्ती आदि सब अवस्थाओं में एकरस रहता है, वह निःसन्देह दीर्घायु होता है।

फिर जैसे दीक्षा और उपसदों में इस यज्ञ की विधि-यज्ञ के साथ समता दिखलाई है, वैसे ही दक्षिणाओं में भी समता दिखलाई है—

अथ यत् तपो दानमार्जवमहिंसा सत्य-वचनमिति, ता अस्य दक्षिणाः।

(छान्दो० ३।१७।४)

और जो तप, दान, सरलता, अहिंसा (दया भाव) और सत्य बोलना है, यह उस की दक्षिणा हैं।

कैसी यह उत्तम दक्षिणा हैं, वह जो तपस्वी है, दानी है, सरल है, (जिस में टेढ़ापन नहीं), जिस का हृदय दया से पूर्ण है और वाणी सचाई से। वह अपनी आयु को दूर तक पहुंचा सकता है, इसमें क्या संदेह है। क्योंकि जीवनकाल को घटाने वाले हृदय के क्षोभों से वह सर्वथा परे रहता है, और बढ़ाने वाली शान्ति से परिपूर्ण रहता है।

इस प्रकार दृढ ध्यान जमाने का नाम भी उपासना है। और इस के फल प्रायः सिद्धियां कहलाती हैं, जैसा कि एक उपासना के फल में कहा है—

वर्षति हास्मै वर्षयति (छान्दो० २।३।२)

इस (उपासना वाले) के लिये (समय २ पर मेंह) अपने आप बरसता है, और वह (जब चाहे) बरसा लेता है।

एक और उपासना के फल में कहा है—

न हाप्सु प्रैति, अप्सुमान् भवति।

(छान्दो० २।४।२)

वह पानियों में नहीं मरता है, और पानियों में अमीर होता है।

इसी प्रकार एक और उपासना के फल में कहा है—

कल्पन्ते हास्मै ऋतवः, ऋतुमान् भवति।

(छान्दो० २।५।२)

इस (उपासना वाले) के लिये सारी ऋतुएं (भोग देने के) समर्थ होती हैं, और वह ऋतुओं में अमीर होता है (ऋतुओं के अच्छे फलों से युक्त होता है)।

ऐसी उपासनाएं मनुष्य के दृढ़ संकल्प की महिमा को प्रकाशित करती हैं। सचमुच मनुष्य इस ब्रह्माण्ड में एक दुर्बल वस्तु नहीं, वह एक बड़ी प्रबल और अद्भुत शक्ति है। उसे अपने ऊपर भरोसा नहीं, यही एक कारण है, कि वह दुर्बल बना हुआ है, जब उसे अपने आप पर भरोसा हो जाता है, और किसी काम के लिये दृढ़संकल्प हो जाता है, तो फिर उस के लिये कोई रुकावट नहीं रहती। जैसा उसके अपने अन्दर पलटा आ जाता है, वैसा ही वह अपने बाहर पलटा देसकता है।

यह हम ने दिग्दर्शनमात्र उन उपासनाओं का वर्णन किया है, जिन का फल सिद्धियां हैं, इन का सविस्तर वर्णन अगले २ प्रकरण में है।

कर्म समृद्धि के लिए उपासनाएं। } दूसरे प्रकार की वह उपासना हैं, जो वैदिक कर्मों को शक्तिशालि बनाती हैं। प्रार्थना के मन्त्र पढ़ देना आसान है, पर वह आशाएं, जो उन मन्त्रों में प्रकट की गई हैं, पूरी हों, इस के लिये पढ़ने वाले के आत्मा में बल चाहिये। और यह बल उपासना द्वारा उस में आता है। छान्दोग्य में उद्गाता के लिये अध्यात्म और अधिदैवत भेद से नेत्र और सूर्य में स्थित पुरुष की उपासना बतला कर उपासक के लिये यह फल बतलाया है—

अथ य एतदेवं विद्वान् साम गायति, उभौ स गायति, सोऽमुनैव, स एष ये चामुष्मात् पराञ्चो लोकास्ताꣳश्चाप्नोति देवकामाꣳश्च ।७। अथानेनैव, ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ताꣳश्चाप्नोति, मनुष्यकामाꣳश्च । तस्मादुहैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ।८। कं ते काममागायानीति, एष ह्येव कामगानस्येष्टे ।९।

(छान्दो० १।७)

अब वह जो इस (रहस्य) को ठीक २ जानता हुआ साम गाता है, वह दोनों* को गाता है। वह उस (सूर्यस्थ पुरुष) के द्वारा ही उस (सूर्य) से परले लोकों को और देवताओं की कामनाओं को पालेता है ।७। और वह इस (अक्षिस्थ पुरुष) के द्वारा, जो इससे निचले लोक हैं, उनको और मनुष्य की कामनाओं को पालेता है । इसलिये वह उद्गाता जो इस प्रकार जानता है (उपासता है) वह यजमान को कह सकता है ।८। क्या कामना तेरे लिये गाऊं (गाकर

---

* अध्यात्म और अधिदैवत आत्मा को, अर्थात् जो अक्षि में पुरुष है और जो सूर्य में पुरुष है। वस्तुतः जो दोनों में एक परम देव है। उपासना के स्थान का भेद है, न कि स्थानी का।

पूरी करूं) क्योंकि वह हरएक कामना के गाने का मालिक है*।

इसी प्रकार बृहदारण्यक (१ । ३) में देवासुर संग्राम की आख्यायिका से यह प्रकट किया है, कि जिस तरह इस देह में प्राण है, जो बुराइयों से बचा हुआ है, और अपनी चेष्टा द्वारा सारे इन्द्रियों को जीवन देरहा है, इसी प्रकार उद्गाता का जीवन बुराइयों से बचा हुआ और परहितसाधन में तत्पर हो, और वह उद्गीथ गाने से पहले यह जप करे।

असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय (बृह० १।३।२८)

असत् (मिथ्यापन) से मुझे सत् की ओर लेजा, अन्धेरे से मुझे ज्योति की ओर लेजा, मृत्यु से मुझे अमृत की ओर लेजा।

इस प्रकार जिस उद्गाता ने अपने जीवन पर प्राण के जीवन का रंग चढ़ाया है, और उद्गीथ गाने से पूर्व इस जप के द्वारा अपने जीवन को सारी क्षुद्रताओं से उठाकर दिव्य अवस्था में स्थापन कर लिया है, उसे अधिकार है, कि वह अपने उद्गीथ में अपनी वा यजमान की कामनाओं को गाए।

---

* कहने का अधिकार वस्तुतः उसी को है, जो उसे पूरा करा सकता है। उद्गाता पहले कामनाओं के गाने का मालिक बने, वह अपने इष्टदेव के साथ जो उन कामनाओं का पूरा करने वाला है, उपासना के द्वारा एक रंग में रंगा हुआ हो, फिर जो चाहे, गाए, उसको अधिकार है।

स एष एवंविदुद्गाता ऽऽत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति।

(बृह० १।३।२८)

यह उद्गाता जो इस रहस्य को ठीक २ जानता है, वह अपने लिये वा यजमान के लिये जो कामना चाहता है, गाता है।

कर्म समृद्धि में ऐतिहासिक प्रमाण।

उपनिषद् में हमें ऐसे इतिहास भी मिलते हैं, जब कि उद्गाताओं ने अपने आत्माओं में ऐसा बल पैदा किया है, और उसका प्रत्यक्ष फल दिखलाया है।

तँह बको दाल्भ्यो विदाञ्चकार, स ह नैमिषीयानामुद्गाता बभूव। स हस्मैभ्यः कामानागायति (छान्दो० १।२।१३)

उसको (प्राण को) दाल्भ्य-(दल्भ के पुत्र) बक ने जाना (अर्थात् उद्गीथ के तौर पर उपासना किया) वह नैमिषीयों (नैमिषवन के याज्ञिकों) का उद्गाता बना, और उसने गाकर उनकी कामनाओं को पूरा किया।

उद्गाता की सब के लिये मङ्गल इच्छा

वह उद्गाता जिसके आत्मा में उपासना का बल है, उसका उद्गीथ न केवल यजमान के लिये, अपितु मनुष्यमात्र के लिये और उससे भिन्न

भी सारी सृष्टि के लिये कल्याणकारी बन जाता है, क्योंकि उसको संसार के हित के लिये ऐसी ही मङ्गल इच्छा का उपदेश है—

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्। स्वधां पितृभ्यः, आशां मनुष्येभ्यः, तृणोदकं पशुभ्यः, स्वर्गं लोकं यजमानाय अन्नमात्मन आगायानीति। एतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत (छान्दो० २।२२।२)

वह इस बुद्धि से गाए, कि मैं "देवताओं के लिये अमृत गाऊं, पितरों के लिये स्वधा, मनुष्यों के लिये आशा (उनकी उमीदें) पशुओं के लिये तृण (घास) और पानी, यजमान के लिये स्वर्ग लोक, और अपने लिये अन्न गाऊं (अर्थात् अपने गाने से सम्पादन करूं)'। इस प्रकार वह (उद्गाता) इनको मन से ध्यान करता हुआ अप्रमत्त होकर स्तुति करे।

वास्तव में जब आत्मा में कोई बल न हो, और मुंह से शब्द कह दिये जाएं, तो वह थोथे ही होते हैं। अब भी उपनयन में आचार्य शिष्य को यह वचन कहता है।

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

मैं अपने व्रत में तेरे हृदय को स्थापन करता हूं, मेरे चित्त के अनुकूल तेरा चित्त हो, मेरी वाणी को एकमन होकर सेवन कर बृहस्पति तुझे मेरे लिये नियुक्त करे।

पर हमारा विश्वास है, जब यह मन्त्र पढ़ते थे, तो वह अपने अन्दर की शक्ति से काम लेते थे, वह सचमुच उसके हृदय को जकड़ लेते थे, और उसके चित्त को अपने चित्त का अनुसारी बना लेते थे। अब यदि यजमान और पुरोहित के सम्बन्ध से, वा गुरु और शिष्य के सम्बन्ध से, वह मधुर फल नहीं उत्पन्न होते हैं, जो शास्त्र में बतलाए हैं, तो इसमें शास्त्र का अपराध नहीं। वह निर्दोष है। तुम स्वयं निर्दोषी बनो, बस इतनी ही त्रुटि है। यदि तुम इस त्रुटि को पूरा करलो, तो फिर तुम शास्त्र को सचमुच निर्दोष पाओगे, और जितना तुम आगे बढ़ना चाहोगे, वह तुम्हें रस्ता दिखलाता हुआ बढ़ा लेजाएगा।

यह थोड़ासा उन उपासनाओं का वर्णन किया है, जिनका फल सिद्धियां हैं, वा कर्म की समृद्धि है। मुख्यतया हमारा अभिप्राय यहां उन्हीं उपासनाओं के वर्णन से है, जिनका फल परमात्मा की प्राप्ति है—

उपासना में द्वार का भेद है और वह भिन्न २ दिव्य शक्तियां हैं।

वह सर्वव्यापी परब्रह्म, जिस की महिमा से सारा विश्व परिपूर्ण हो रहा है, जहां उसकी महिमा अधिक चमकती है, वहीं हमारे लिये उसके ध्यान जमाने का द्वार

बन जाता है। गार्ग्य और अजातशत्रु के सम्वाद (बृह० २।१) में गार्ग्य बतलाता है—

य एवासावादित्ये पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे।

यह जो सूर्य में पुरुष है, मैं इसी को ब्रह्म उपासता हूं।

य एवासौ चन्द्रे पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे।

यह जो चन्द्र में पुरुष है, इसी को मैं ब्रह्म उपासता हूं।

य एवासौ विद्युति पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे।

यह जो विद्युत् में पुरुष है, इसी को मैं ब्रह्म उपासता हूं।

य एवाय माकाशे पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे।

यह जो आकाश में पुरुष है, इसी को मैं ब्रह्म उपासता हूं।

य एवायं वायौ पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे।

यह जो वायु में पुरुष है, इसी को मैं ब्रह्म उपासता हूं।

य एवायमग्नौ पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे।

यह जो अग्नि में पुरुष है, इसी को मैं ब्रह्म उपासता हूं।

इत्यादि रूप से बाह्य जगत् में अपनी उपासना के द्वार बतलाए हैं।

वह जिसकी महिमा सारे विश्व पर चमक रही है, हमारा जीवन भी उसकी महिमा से भरा हुआ है, हम बाहर ही क्यों देखें हमारे जीवन में क्या उसकी थोड़ी महिमा है,

यदि सूर्य में उस महती सत्ता के चिन्ह विद्यमान हैं, तो हमारे अन्दर भी, हमारी बनावट में भी, हमारे जीवन में भी, उसके चिन्ह बड़े स्पष्ट प्रकट हैं—

य एषोऽक्षणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेति होवाच। एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति—

(छान्दो० ४। १५। १)

उसने (सत्यकाम ने) (अपने शिष्य उपकोसल को) कहा 'यह जो आंख में (दृष्टि का द्रष्टा) पुरुष दीखता है, यह आत्मा है, यह अमृत है, अभय है, यह ब्रह्म है।

गीता भी इसी अर्थ का उपदेश करती है—

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।

(१०। ४१)

जो २ सत्ता (हस्ती) विभूति वाली है, शोभा वाली है, और बलशाली है, उस २ को ब्रह्म के तेजोंश (तेज के अंश) से प्रकट हुआ जानो।

द्वार भेद से फल का भेद। — हम जिस दिव्य शक्ति को लेकर उसकी महिमा को देखते हुए उस पर ध्यान जमाते हैं, उसी महिमा का हमारे जीवन में परिवर्तन होता है, और उसके सदृश ही हमें लौकिक फल मिलते हैं। जैसा के कहा है—

तं यथा यथोपासते तदेव भवति ।

उसको जैसे २ उपासते हैं, वही होता है ।

इसीलिये ऊपर कही हुई गार्ग्य की उपासनाओं में साथ ही साथ अजातशत्रु ने उस २ द्वार से प्रकट होने वाली परमात्मा की महिमा और उस २ उपासना के फल को अलग २ दर्शाया है । जैसा सूर्य द्वार को लेकर कहा है—

'अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास' इति । स य एतमेवमुपास्ते, अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति ।

(बृह० २ । १ । २)

यह सब से ऊपर स्थित है, सब प्राणियों का मूर्धा (सिर) है, और राजा है, ऐसा जान कर मैं इसको (सूर्य में स्थित पुरुष को) उपासता हूं । जो कोई इसको ऐसा जान कर उपासता है, वह सबसे ऊपर स्थित (श्रेष्ठ, बड़ा) होता है, सब प्राणियों का मूर्धा (सिर, शिरोमणि) होता है, राजा* होता है ।

इसी प्रकार विद्युत् के द्वार को लेकर कहा है—

'तेजस्वीति वा अहमेतमुपास' इति । स

---

* उसके सामने सब झुकते हैं, और उसकी आज्ञा को मानते हैं ।

य एतमेवमुपास्ते, तेजस्वी ह भवति, तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति (बृह० २।१।४)

मैं इसे तेजस्वी जानकर उपासता हूं, जो कोई ऐसा जानकर इसको उपासता है, वह तेजस्वी होता है, और उस की सन्तान तेजवाली होती है।

तत् प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति, तन्मह इत्युपासीत। महान् भवति।

(तै० ३।१०)

उस (ब्रह्म) को प्रतिष्ठा (सर्वाधार) रूप से उपासे, तब वह प्रतिष्ठा वाला हो जाता है, उसको महत्स्वरूप से उपासे, तब वह महान् बन जाता है।

द्वार का भेद होने पर भी उपास्य सभी जगह एक परमात्मा है। हम किसी दिव्य शक्ति को लेकर उस में उसकी महिमा को देखते हुए उस का ध्यान जमा सकते हैं पर वह, जिसका ध्यान करते हैं, वह सभी जगह एक परमात्मा है—

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः।

(तै० २।८; ३।१०)

वह (अन्तर्यामी आत्मा) जो पुरुष में है, और वह जो सूर्य में है, वह एक है।

यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः

पुरुषो, यश्चायमध्यात्मꣳशारीरस्तेजोमयो-ऽमृतमयः पुरुषः । अयमेव स यो ऽयमात्मेद-ममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ।१। यश्चायमग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः । अयमेव-सयोऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् । ३ ।

(बृह० २।५)

जो बाहर इस पृथिवी में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो अध्यात्म में शरीर के अन्दर तेजोमय अमृतमय पुरुष है। यही वह है जो आत्मा (सर्वात्मा) है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है। १। और जो बाहर इस अग्नि में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह अध्यात्म में वाणी का अन्तर्यामी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो आत्मा है, यह अमृत, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है। ३।

यहां जो चैतन्य रूप अमृतमय पुरुष बाह्यजगत् में पृथिवी का अधिष्ठाता बतलाया है, उसी को अध्यात्म जगत् में शरीर का अधिष्ठाता बतलाकर दोनों की एकता दिखलाई है। और अन्त में प्रकट किया है, कि यही ब्रह्म है। फिर वही एकता अग्नि और वाणी के अधिष्ठाता में दिखलाकर फिर अन्त में वही पहले शब्द दुहरा दिये हैं, 'यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है' । इससे यह पूरा २

स्पष्ट हो जाता है, कि जो अमृत ब्रह्म पहले पृथिवी और शरीर में कहा है, वही फिर अग्नि और वाणी में कहा है। इस सारे ब्राह्मण में इसी रीति पर वर्णन है, जो उपनिषद् के अभिप्राय को पूरा स्पष्ट करता है। अन्तर्यामी ब्राह्मण (बृह० ३।७) भी इसी अभिप्राय का पोषक है।

उपकोसल को जो शिक्षा अग्नियों से मिली है, उसमें गार्हपत्य अग्नि का यह वचन बतलाया है—

य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते, सोऽहमस्मि स एवाह मस्मीति (छान्दो० ४।११।१)

यह जो सूर्य में पुरुष दीखता है, वह मैं हूं, वही मैं हूं।

इसके सिवाय यहां क्या अभिप्राय हो सकता है, कि जो सूर्य में चेतन है, वही गार्हपत्य में है, गार्हपत्य में उसी की उपासना है, जिसके तेज से सूर्य प्रदीप्त होता है।

इत्यादि प्रमाण इस विषय के स्पष्ट निर्णायक हैं कि द्वार का भेद होने पर भी उपास्य सर्वत्र एक है। श्रीशङ्कराचार्य भी इसी विषय को स्पष्ट करते हैं—

तेषां गुणविशेषोपाधिभेदेन भेदः एक एव तु परमात्मेश्वर स्तै स्तैर्गुणविशेषै र्विशिष्ट उपास्यो यद्यपि भवति तथापि यथागुणोपासनमेव फलानि भिद्यन्ते 'तं यथा यथोपासते,

तदेव भवति' इतिश्रुतेः ।

(वेदान्त० १ । १ । १२ की अवतरणिका)

गुणों के भेद से और उपाधि (हृदय आदि स्थान) के भेद से उपासनाओं का भेद है । हां एक ही परमात्मा ईश्वर उन २ विशेष गुणों से युक्त हुआ यद्यपि उपास्य है, तथापि जिस गुण को लेकर उपासना की जाती है, उसके अनुसार ही फल का भेद होता है । इसमें यह श्रुति है 'उसको जैसे २ उपासते हैं, वही होता है' ।

वैश्वानर आत्मा की उपासना । — जैसाकि ऊपर वर्णन हुआ है, उस विश्वव्यापी परमात्मा की महिमा को सारा ही विश्व वर्णन करता है, इसलिये जिस किसी भी दिव्य शक्ति को लेकर उसके द्वारा प्रकट हुई महिमा से विशिष्ट परमात्मा का हम, ध्यान कर सकते हैं, तथापि एक २ दिव्य शक्ति उस की एक छोटी सी महिमा की ही प्रकाशक होती है, जैसे आंख जीवात्मा की एक ही महिमा (देखने) की प्रकाशक है । इसलिये किसी एक दिव्य शक्ति में उसकी महिमा का दर्शन सारे विश्व में फैली हुई महिमा में से बहुत थोड़ी सी महिमा का दर्शन है । उसकी पूरी महिमा देखने के लिये एक साथ सारे विश्व में उसके ध्यान की आवश्यकता है, इसी का नाम विराडुपासना वा वैश्वानरोपासना है । यह समष्ट्युपासना है जो पहली व्यष्ट्युपासनाओं की अपेक्षा अधिक उत्तम है, क्योंकि यह ब्रह्म की सारी महिमा को सामने रखती

है। छान्दोग्य (५। ११—२४) में वैश्वानरोपासना का वर्णन है। यहां यह इतिहास है, कि छः ऋषि वैश्वानर की उपासना जानने के लिये अश्वपति के पास गए। अश्वपति के पूछने पर औपमन्यव ने कहा, कि मैं द्यौ में उसको उपासता हूं, सत्ययज्ञ ने कहा, मैं आदित्य में उपासता हूं, इन्द्रद्युम्न ने कहा, मैं वायु में उपासता हूं, जन ने कहा, मैं आकाश में उपासता हूं, बुडिल ने कहा, मैं जलों में उपासता हूं, औद्दालक ने कहा, मैं पृथिवी में उपासता हूं। अश्वपति ने उन सब की बात को सुनकर उत्तर दिया, तुम इस वैश्वानर आत्मा को मानो अलग २ मान रहे हो, तुमको जानना चाहिये, कि—

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ।

(छान्दो० ५। १८। १)

इस वैश्वानर आत्मा का द्यौ तो केवल सिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, आकाश धड़ है, जल बस्ति है, और पृथिवी केवल पाओं है, (अर्थात् वह इस सारे विश्व का अन्तरात्मा है, ऐसा जानते हुए उसको उपासो)।

हृदय कमल में ब्रह्म की उपासना। } उपासना का सब से उत्तम स्थान हृदय देश है। बाह्य जगत् में उसके छाया रूप दर्शन होते हैं, पर हृदय देश में उसके साक्षात् दर्शन होते हैं। पर इसकी उपासना के योग्य स्थान वही

हृदय है, जो बाह्य उपासना से सर्वथा शुद्ध हो गया है, और जिसमें उस परम आत्मा का सच्चा प्रेम जाग उठा है, या यूं कहो, कि पहली उपासनाओं का यह उपासना फल है, और इसका फल मुक्ति है, इस उपासना के दिखलाने के लिये हम यहां दहरोपासना का उल्लेख करते हैं :—

दहरोपासना का स्वरूप।

अथ यदिद मस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं, तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति । १ ।

(छान्दो० ८ । १)

यह जो ब्रह्मपुर (ब्रह्म का पुर=शरीर) है, इसमें एक छोटा सा (हृदय) कमल का मन्दिर है, इस (मन्दिर) के अन्दर एक छोटा सा आकाश (=ब्रह्म) है। अब उस (छोटे आकाश) के अन्दर जो कुछ है, उसका अन्वेषण करना चाहिये, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिये । १ ।

प्रश्नोत्तर रूप से हृदयस्थ ब्रह्म की महिमा का वर्णन

तञ्चेद् ब्रूयुः 'यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, किं तदत्र विद्यते, यदन्वेष्टव्यं, यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।२।

स ब्रूयाद् 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः । उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते । उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ । विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति' ।३। तञ्चेद् ब्रूयुः 'अस्मिंश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वंसमाहितंसर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः यदैनज्जरावाप्नोति प्रध्वंसते वा किं ततोऽतिशिष्यतइति' । ४ । स ब्रूयात् 'नास्य जरयैतज्जीर्यति, न वधेनास्य हन्यते, एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिताः ।

उसे यदि कहें 'यह जो ब्रह्म का पुर है, छोटा सा तो इसमें कमल का मन्दिर, और छोटा सा उस (हृदयकमल) के अन्दर आकाश, अब इसके अन्दर वह क्या है, जिसका अन्वेषण करना चाहिये, जिसकी जिज्ञासा करनी चाहिये ।२।

---

* छोटा सा तो हृदय, उसके अन्दर फिर और भी छोटा सा आकाश, अब उस छोटे से आकाश के अन्दर भला

तो वह कहे 'जितना बड़ा यह (बाहर का) आकाश है, उतना बड़ा यह हृदय के अन्दर (का) आकाश है। दोनों-द्यौ और पृथिवी इसमें अन्दर ही समाए हुए हैं, अग्नि और वायु; सूर्य और चन्द्र; बिजलियें और नक्षत्र; और जो कुछ इस (आत्मा) का इस लोक में है, और जो नहीं है (अर्थात् जो कुछ हो चुका है, या होगा) वह सब इसमें समाया हुआ है * । ३ ।

और यदि उसे कहें, 'इस ब्रह्मपुर में यदि सब कुछ

क्या होगा, जिस को ढूंढना चाहिये, और यदि कुछ लेशमात्र वहां ढूंढने से मिल भी गया, तो उससे ढूंढने वाले का क्या बन जाएगा, जिसके लिये इतने गौरव से उपदेश दिया जा-रहा है—उसके अन्दर जो कुछ है, उसे ढूंढो, उसकी जिज्ञासा करो।

* हृदय के अन्दर के आकाश से ब्रह्म अभिप्राय है, इसलिये हृदय के अन्दर छोटा सा आकाश कहने से यह अभिप्राय नहीं, कि बस वह हृदय के अन्दर सारा समाया हुआ है, अपितु यह सारा ब्रह्माण्ड उसके अन्दर समाया हुआ है। जो यह हृदय में आकाश है, वह छोटासा नहीं, किन्तु इतना बड़ा है, जितना बड़ा यह बाह्य आकाश है। किन्तु वह शुद्ध स्वच्छ ज्योतिः स्वरूप से हृदय में उतना मात्र साक्षात् होता है, इसलिये छोटा सा कहा है। यहां बाह्य आकाश की उपमा भी बड़ा बतलाने में है, वस्तुतः आकाश भी उसके अन्दर है।

समाया हुआ है, सारे भूत और सारी कामनाएं (काम्य-वस्तुएं, समाई हुई हैं) तो जब इसे बुढ़ापा आघेरता है, वा यह टुकड़े २ हो जाता है, तब फिर क्या (इसका) पीछे बच रहता है। ४।

तब वह कहे 'इस (शरीर) के बुढ़ापे से वह (आकाश' हृदयाकाशस्थब्रह्म) बूढ़ा नहीं होता, और न इसके मृत्यु से वह मरता है। यह (ब्रह्म) है सच्चा ब्रह्मपुर (न कि शरीर) इसमें सारी कामनाएं समाई हुई हैं।

हृदयस्थ ब्रह्म का स्वरूप और उसकी उपासना का फल।

एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको ऽविजिघत्सो ऽपिपासः सत्यकामः सत्यसं-कल्पः। यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथा ऽनुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति।५। तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवा मुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते। तद्य इहात्मान मननुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्ते-षां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहा-

त्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताꣳश्च सत्यान् कामाꣳस्तेषाꣳसर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।६।

यह आत्मा है जो सारे पापों से अलग है, जरा और मृत्यु से परे है, शोक से परे है, भूख और प्यास से परे है, वह सच्ची कामनाओं वाला और सच्चे संकल्पों वाला है। जैसे यहां प्रजाएं (जिन पर दूसरा स्वामी है, उस स्वामी के) शासन (हुक्म) के अनुसार चलती है, और जिस २ भाग से उनका प्यार (हक) हो, चाहे वह कोई देश हो, वा क्षेत्र का टुकड़ा, वह उस २ का ही उपभोग करती हैं । ५ ।

* और जैसे यहां कर्म (खेती आदि वा सेवा आदि) से जो लोक जीता गया है (प्राप्त हुआ है) वह क्षीण हो जाता है, वैसे ही परलोक में भी वह फल क्षीण हो जाता है, जो यहां पुण्यकर्मों के पूरा करने से जीता गया है। सो वे पुरुष जो इस आत्मा को और इन सच्ची कामनाओं को ढूंढे विना ही इस लोक से चल देते हैं, उनके लिये सारे लोकों में कोई स्वतन्त्रता नहीं है। पर वह जो उस आत्मा को और

---

* जो स्वराज्य कामना वाले हैं, उनके लिये इस आत्मा का जानना आवश्यक है क्योंकि केवल कर्म का फल थोड़ा और क्षीण होने वाला है, और तिस पर भी उनकी स्वतन्त्रता नहीं होती, हां ज्ञान का फल स्वराज्य है, स्वतन्त्रता है, यह दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं ।

उन सभी कामनाओं को ढूंढ करके इस लोक से चलते हैं, उनके लिये सब लोकों में स्वतन्त्रता है । ६ ।

ब्रह्मलोक की प्राप्ति में कामनाओं की पूर्ति और ब्रह्म वेत्ता के संकल्प का बल ।

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति, तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते । १ । अथ यदि मातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति, तेन मातृलोकेन सम्पन्नो महीयते । २ । अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति, तेन भ्रातृलोकेन सम्पन्नो महीयते । ३ । अथ यदि स्वसृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति, तेन स्वसृलोकेन सम्पन्नो महीयते । ४ । अथ यदि सखिलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति, तेन सखिलोकेन सम्पन्नो महीयते । ५ । अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य-

गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतः, तेन गन्धमाल्यलोकेन सम्पन्नो महीयते । ६ । अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतः, तेनान्नपानलोकेन सम्पन्नो महीयते ।७। अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतः, तेन गीतवादित्रलोकेन सम्पन्नो महीयते ।८। अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति, तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते । ९ । यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते । १० ।

* वह यदि पितृलोक † की कामना वाला होता है,

---

* किस तरह सब लोकों में उसकी स्वतन्त्रता होती है, यह वर्णन करते हैं।

† लोक वह है, जिसमें रह कर, वा जिन साधनों के साथ, हम अपनी कमाई का फल भोगते हैं। यहां पितृलोक

तो इसके संकल्प मात्र से पितर उसके सामने प्रकट होते हैं, और वह पितृलोक से सम्पन्न हुआ (पितृलोक की सम्प्राप्ति लाभ करके) आनन्द भोगता है। १। और यदि वह मातृलोक की कामना वाला होता है, तो इसके संकल्पमात्र से उसके सामने माताएं प्रकट होती हैं, और वह मातृलोक से सम्पन्न होकर आनन्द भोगता है। २। और यदि वह भ्रातृलोक की कामना वाला होता है, तो इसके संकल्पमात्र से भाई प्रकट होते हैं, और वह भ्रातृलोक से सम्पन्न हुआ आनन्द भोगता है। ३। और यदि वह भगिनीलोक की कामना वाला होता है, तो इसके संकल्प मात्र से बहिनें इसके सामने प्रकट होती हैं, और वह भगिनीलोक से सम्पन्न होकर आनन्द भोगता है। ४। और यदि वह मित्रलोक की कामना वाला होता है, तो इसके संकल्पमात्र से मित्र प्रकट होते हैं और वह मित्रलोक से सम्पन्न हुआ आनन्द भोगता है। ५। और यदि वह गन्धमाल्य (गन्ध और माला के) लोक की कामना वाला होता है, तो इसके संकल्पमात्र से गन्ध और माला प्रकट होती हैं और वह गन्धमाल्यलोक से सम्पन्न हुआ आनन्द भोगता है। ६। और यदि वह अन्नपान (अन्न और

से तात्पर्य पितरों के सद्भाव और उनके साथ आनन्द भोगने से है। यह भोग मानस हैं, जैसाकि आगे कहा है 'मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते (छान्दो० ८।१२।५) य एते ब्रह्मलोके (छान्दो० ८।१२।६) मन से वह इन कामनाओं को देखता हुआ आनन्द भोगता है, जो यह ब्रह्मलोक में हैं।

पान के) लोक की कामना वाला होता है, तो इसके संकल्प-मात्र से अन्न और पान प्रकट होता है, और वह अन्नपान के लोक से सम्पन्न हुआ आनन्द भोगता है । ७ । और यदि वह गीतवादित्र (गीत और बाजे के) लोक की कामना वाला होता है, तो इसके संकल्पमात्र से गीत और बाजे प्रकट होते हैं, और वह गीतवादित्रलोक से सम्पन्न हुआ आनन्द भोगता है । ८ । और यदि वह स्त्रीलोक की कामना वाला होता है, तो इसके संकल्पमात्र से स्त्रियें प्रकट होती हैं, और वह स्त्री-लोक से सम्पन्न हुआ आनन्द भोगता है । ९ । निदान जिस जिस विषय का वह प्यार करता है, जिसको चाहता है, वह इसके संकल्पमात्र से प्रकट होता है, और वह उससे सम्पन्न हुआ आनन्द भोगता है । १० ।

सच्ची कामनाओं की प्राप्ति में रुकावट क्या है।

त इमे सत्याः कामा अनृता-पिधानाः तेषाꣳ सत्यानाꣳ सतामनृतमपिधानम् । यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते । १ । अथ ये चा-स्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते, सर्वं तदत्र गत्वा विन्दते । अत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानाः । तद् यथापि हिरण्य-निधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न

विन्देयुः; एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः। २। (छान्दो० ८। ३)

सो यह सच्ची कामनाएं झूठ से ढकी हुई हैं; अर्थात् यद्यपि यह कामनाएं सत्य हैं, पर इन पर यह ढकना है, जो झूठ है। जो २ (सम्बन्धी) इस (पुरुष) का यहां से चल बसता है, उसको फिर यहां (इन आंखों से) देखने के लिये वह नहीं पासकता। १। पर जो इसके यहां जीवित हैं, जो मर चुके हैं, और जो कुछ और भी है, जिसको वह चाहता है, पर पा नहीं सकता, उस सबको यहां (हृदयस्थ ब्रह्म में) पहुंचकर पालेता है (यदि वह अपने हृदय में उतरे, जहां हृदयाकाश में ब्रह्म रहता है)। क्योंकि यहां (हृदयस्थ ब्रह्म में) इसकी सच्ची कामनाएं हैं, जो झूठ से ढकी हुई हैं*।

---

* सच्ची कामनाएं, जिनका यह पहले और दूसरे खण्ड में वर्णन है, वह हर एक के हृदय के अन्दर सदा विद्यमान हैं। उन कामनाओं को हर एक पुरुष इसलिये नहीं पासकता, कि उनके ऊपर एक परदा पड़ा हुआ है, और वह परदा झूठ का है, अर्थात् बाहर के विषयों में तृष्णा और उसके परवश होकर स्वेच्छाचारी होना (न कि शास्त्र की मर्यादा में रहना) यह कामनाएं मिथ्याज्ञान से होती हैं, इसलिये झूठी हैं। जब यह झूठ का परदा उठ जाता है, तब वह सच्ची कामनाएं प्रकाशित होती हैं।

जैसा कि दबे हुए सोने के निधि (खज़ाने) के ऊपर २ घूमते हुए भी वह लोक जो क्षेत्रज्ञ (क्षेत्रविद्या के वेत्ता) नहीं हैं, वह उसे नहीं पा सकते। इसी प्रकार यह सारी प्रजाएं (जन्तु) दिन प्रति दिन ब्रह्मलोक में जाती हैं (सुषुप्ति काल में हृदयस्थ ब्रह्म में लीन होती हैं) तथापि वह उसे नहीं ढूंढ पातीं, क्योंकि वह झूठ से चलाई जारही हैं (अर्थात् झूठ ने उनको अपने स्वरूप से हटाकर बाहर के विषयों में फँसा हुआ है) । २ ।

आत्मा और परमात्मा की प्राप्ति के लिये योग का वर्णन ।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् । १० । तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ।११।

(कठ० ६)

जब पांचों ज्ञानेन्द्रिय मन के साथ स्थिर हो जाते हैं, और बुद्धि भी नहीं डोलती है, उसे परमगति (सबसे ऊंची अवस्था) कहते हैं। १० । यह जो इन्द्रियों की निश्चल धारणा है, इसी को योग मानते हैं। उस समय वह (योगी) प्रमाद (अपने आपको जो भूला हुआ था, उस) से रहित होता है, क्योंकि योग प्रभव और अव्यय (उत्पत्ति और लय का स्थान =आन्तर ज्ञान की उत्पत्ति और बाह्य ज्ञान की लय का स्थान) है।

योग का प्रकार } त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥ प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत। दुष्टाश्वयुक्त मिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥ (श्वेता० २)

छाती गर्दन और सिर इन तीनों को सीधा रख कर, और मन समेत इन्द्रियों को हृदय में रोक कर, और ओंकार की नौका पर सवार हो कर भय के लाने वाले सारे प्रवाहों से पार उतर जाए। ८। युक्त चेष्टा वाला हो कर प्राणों को रोके, और प्राण के क्षीण होने पर नासिका से श्वास ले। और सचेत सारथि जैसे घोड़ों की चञ्चलता को रोकता है, इस प्रकार अप्रमत्त हो कर मन को रोके ॥ ६ ॥

योग का स्थान } समे शुचौ शर्करावन्हिबालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः। मनोऽनुकूले नतु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ (श्वेता० २। १०)

स्थान जो सम है, शुद्ध है, कंकर अग्नि और बालू से शून्य है, शब्द और जलाशय आदि से मन के अनुकूल है, आंखों को पीड़ा देने वाला नहीं, एकान्त है, निर्वात है, ऐसे स्थान पर चित्त को (परमात्मा में) लगाए। १०।

परमात्मा के दर्शन से पहले प्रगट होने वाले चिन्ह — इस तरह जिस पुरुष ने परमात्मा में चित्त को मग्न कर दिया है, उस के सामने जो चिन्ह (निशान) प्रकट होते हैं, उन का वर्णन यह है—

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतवि-
द्युत् स्फटिकशशीनाम्। एतानि रूपाणि पुरः-
सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥

(श्वेता० २। ११)

योग करते समय ब्रह्म के प्रकट करने वाले यह रूप पहले दीखते हैं, कुहर, धुआं, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, बिजली, बिल्लौर और चन्द्र, यह सब रूप दीख कर जब शान्त हो जाते हैं, तब ब्रह्म का प्रकाश होता है। ११।

योग में प्रवृत्ति के यह शारीरिक चिन्ह बतलाए हैं—

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादः स्वर-
सौष्ठवंच। गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योग-

प्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति । १२ । न तस्य रोगो न जरा न दुःखं प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।१३

शरीर हलका हो जाता है, आरोग्य रहता है, विषयों की लालसा मिट जाती है, कान्ति बढ़ जाती है, स्वर मधुर हो जाता है, गन्ध शुभ होता है, मल मूत्र थोड़ा होता है, यह योग की पहली प्रवृत्ति है । १२ । जिसने योग का अग्निमय शरीर पालिया है, उस के लिये न रोग है, न बुढ़ापा है, न दुःख है । १३ ।

फिर योग के मार्ग पर चलते हुए जो उसे आत्मा का साक्षात् दर्शन होता है, उस को इस तरह वर्णन किया है—

योगमार्ग से आत्मा का साक्षात्कार

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत् सुधातम् । तद्वाऽऽत्मतत्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥ (श्वेता० २ । १४)

जैसे कोई रत्न मट्टी से लिथरा हुआ हो, जैसे वह धोया हुआ तेजोमय हो कर चमकता है, इस प्रकार (शुद्ध होकर चमकते हुए) आत्मतत्व को देख कर मनुष्य शोक से परे हुआ कृतार्थ हो जाता है । १४ ।

आत्मदर्शन के पीछे परमात्मा के दर्शन

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत ।

अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ (श्वेता० २ । १५)

फिर जब युक्त हो कर आत्मतत्त्व के दीपक से ब्रह्मतत्त्व को देखता है, जो ब्रह्मतत्व, अजन्मा, अटल, और सारे तत्त्वों से शुद्ध है, इस देव को जान कर सारी फांसों से छूट जाता है (मुक्त होता है, और यही जीवन का परम लक्ष्य है)।

आठवां अध्याय (मुक्ति के वर्णन में)

मुक्ति की ओर झुकाने के लिये प्रबल प्रेरणा

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम्पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥ (बृह० ३ । १४)

उठो जागो ! चुने हुए आचार्यों के पास जाओ और समझो ! जैसे छुरे की तेज धारा (पर से) लांघना कठिन है, बुद्धिमान् लोग वैसे उस मार्ग को दुर्गम बतलाते हैं * ॥

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः । ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःख मेवापियन्ति ॥ (बृह० ४।४।१४)

* जे तैनूं प्रेम खेलनदा चाव । सिर धर तली गली मोरी आव ॥

यहां ही होते हुए हम उस को जान सकते हैं, और यदि नहीं जाना, तो भारी विनाश है। जो उस को जान लेते हैं, वह अमृत हो जाते हैं; और दूसरे दुःख में ही डूबते हैं।

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

(श्वेता० ६। २०)

जब लोग चमड़े की तरह आकाश को लपेट सकेंगे, तब परमात्मा को न जान कर दुःख का अन्त हो सकेगा।

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद् भवति। यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः। अथ य एतदक्षरं गार्गि ! विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः॥ (बृह० ३।८।१०)

जो इस अक्षर (अविनाशि परब्रह्म) को जाने बिना हे गार्गि ! इस लोक में होम करता है, वा तप तपता है, वह चाहे इसका बहुत सहस्रों वर्ष भी हो, पर वह इसका अन्त वाला ही होता है। जो इस अक्षर को जाने बिना हे गार्गि ! इस दुनियां से चल देता है, वह कृपण (दया का पात्र) है।

हां जो इस अक्षर को जान कर हे गार्गि ! इस दुनिया से चलता है, वह सच्चा ब्राह्मण है ।

मुक्ति का एकमात्र उपाय परमात्मा का जानना है

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वा ऽतिमृत्युमेतिनान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय (यजु० ३१।१४; श्वेता० ६।१५

मैं इस महान् पुरुष को जानता हूं, जो प्रकाशमय अन्धेरे से परे है, उसको जान कर ही पुरुष मृत्यु को उलांघ जाता है, (मुक्ति की ओर) चलने के लिये और कोई मार्ग नहीं है ।

" अथ यो हवा अस्माल्लोकात् स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति, स एनमविदितो न भुनक्ति, यथा वेदो वा ऽननूक्तो, ऽन्यद्वा कर्माकृतं । यदि हवा अप्यनेवं विद्वू महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एव । आत्मानमेवलोकमुपासीत । स य आत्मानमेवलोकमुपास्ते, न हास्यकर्म क्षीयते । अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत् कामयते तदेव सृजते ॥ (बृह० १।४।१५)

जो अपनी असली दुनिया (आत्मा) को देखे बिना इस दुनिया से चलदेता है, तब वह दुनिया (आत्मा) इस को अपने भोग नहीं भुगाती है, जैसे वेद बिना जाने या और कोई कर्म बिना किये (अपना फल नहीं भुगाता) । और कि, इसको न जानने वाला यद्यपि बहुत बड़ा पुण्य कर्म भी करे, तो वह उस का अन्ततः क्षीण हो जाता है । सो चाहिये कि आत्मा को ही अपना असली लोक समझ कर उपासे । वह जो आत्मा को ही अपना असली लोक समझ कर उपासता है, उस का कर्म क्षीण नहीं होता, क्योंकि वह इसी आत्मा से जो २ चाहता है, रचलेता है ।

परमात्मा के जानने के लिये पहुंचे हुए गुरु की शरण ले और वह उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश दे ।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । १२ । तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय । येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ।१३। (मुण्ड० १ । २)

उसके जानने के लिये वह एक ऐसे गुरु के पास जाए, जो वेद का जानने वाला और ब्रह्म में निष्ठा वाला (एकाग्र चित्त) है । १२ । ऐसा शिष्य, जो यथाविधि शरण में आया है, जिस का चित्त लौकिक कामनाओं से चञ्चल नहीं हो रहा

है और जो पूरी शान्ति से युक्त है, उस को वह विद्वान् उस ब्रह्मविद्या का यथार्थ उपदेश दे, जिस से उसने अविनाशी पुरुष (परमब्रह्म) को जाना है। १३।

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

(श्वेता० ६। २३)

जिस की परमात्मा में परम भक्ति है, और जैसी परमात्मा में है, वैसी गुरु में है, उस महात्मा को यह कही हुई बातें प्रकाशती हैं।

यहां चतुराई काम नहीं देती यहां उस की कृपा ही का सहारा है

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ (मुण्ड० ३।२।३)

यह आत्मा न वेद से पाया जा सकता है, न मेधा से, न बहुत सुनने से; जिस को यह आप चुन लेता है, वही उसे पा सकता है, उस के लिये यह आत्मा अपना स्वरूप खोलता है।

ये चैनं प्रतिपद्यन्ते भक्तियोगेन भाविताः।
तेषामेवात्मनाऽऽत्मानं दर्शयत्येष हृच्छयः ॥

(महाभा० अनु)

जो भक्तियोग से संस्कृत हो कर इस की शरण लेते हैं, उन्हीं को यह आप अपना दर्शन देता है, यह जो हृदय में स्थित है।

तथापि उसकी प्राप्ति के लिये साधनों की आवश्यकता है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिङ्गात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तुविद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥
(मुण्ड० ३।२।४)

यह आत्मा न तो बलहीन (आत्मबल से हीन) पुरुष से पाया जा सकता है, और न ही प्रमाद (असावधानी) से, अथवा संन्यास रहित तप से, हां जो विद्वान् इन उपायों (बल, अप्रमाद, और संन्यास सहित तप) से यत्न करता है, उसका यह आत्मा ब्रह्मधाम में प्रवेश करता है।

उस का दर्शन उस की कृपा से ही होता है, और उस का दर्शन बिना साधनों के नहीं होता, यह दोनों बातें ठीक हैं, क्योंकि साधन तो हमें उन की कृपा का पात्र बनाते हैं, और उस की कृपा हमें उस का दर्शन दिलाती है। सूई जब तक चुम्बक से दूर पड़ी है, चुम्बक उसे नहीं खींचता, सूई को चुम्बक के निकट लेआओ, फिर तुम छोड़ दो, वह उसे खींच कर अपने साथ मिला लेगा। सचमुच इसी तरह तुम उस से मुख मोड़ कर उससे दूर जा पड़े हो, पहले मुख उस की ओर फेरो, और उस की ओर कुछ आगे बढ़ो, जब तुम उसके निकट हो जाओगे तब वह स्वयं खींचकर तुम्हें अपने

साथ मिलालेगा। उस की ओर मुख मोड़ना पापों से बचना और बाह्य विषयों से विरक्त होना है, और उसकी तर्फ आगे बढ़ना कर्मयोग और भक्तियोग में आगे २ बढ़ना है।

कौनसी त्रुटियां हैं जिनको दूर करके ही उसको पासकते हैं

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ (कठ० २। २४)

वह जो दुश्चरितों से नहीं हटा है, जो शान्त नहीं है (अपने ऊपर बस नहीं रखता है) जिस का चित्त एकाग्र नहीं और मन शान्त नहीं है, वह इस को खाली प्रज्ञान (दानाई, वा पुस्तकों के ज्ञान) से नहीं पासकता है।

बाह्य विषयों से वैराग्य

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।१। पराचः कामाननुयन्ति बालास्तेमृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ।२। (कठ० ४)

परमात्मा ने (मनुष्य के इन्द्रियों के) छेदों को बाहर को छेदा है (खोला है) इस लिये पुरुष बाहर को देखता है, अन्दर अपने आप में नहीं । कोई विरला धीर * पुरुष जिस को अमृत (मुक्ति) की इच्छा है, वह बाहर से आंखों को बन्द करके अन्तरात्मा को देखता है । १ । भोले भाले लोग बाह्य कामनाओं के पीछे भागते हैं, वह इस फैले हुए मृत्यु की फांसों में पड़ते हैं । हां धीर पुरुष अमृतत्व को जान कर इन अस्थिर वस्तुओं में स्थिर को नहीं मांगते † । २ ।

कामनाओं में फंसे हुए जो ब्रह्मज्ञानी बन बैठते हैं वह अपने साथ दूसरों को भी डुबोते हैं ।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः । जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥ (मुण्ड० १ । २ । ८)

अविद्या के अन्दर ही रहकर जो अपने आप धीर बने हुए हैं, और अपने आप को पण्डित मान रहे हैं, वह मूढ जन ठोकरें खाते हुए चक्र लगाते हैं, उन अन्धों की नाईं, जिन का चलाने वाला भी अन्धा है । ८ ।

---

* धीर, हौसले वाला, जिस को बाहर के विषय नहीं गिरा सकते ।

† वह देखते हैं, कि यह सब वस्तुएं अस्थिर ही हैं, इन में कोई स्थिर नहीं है ।

आत्मा का जानना बड़ी दुर्लभ वस्तु है। } श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोपि बहवो यन्न विद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ (कठ० २।७)

जिस का श्रवण करना भी बहुतों के भाग्य में नहीं है। सुनते हुए भी बहुत जिस को नहीं जानते हैं, इसका बतलाने वाला कोई विरला होता है, और बड़ा कुशल पुरुष इस का पाने वाला होता है। इसका जानने वाला कोई विरला निकलता है, जब वह किसी निपुण (आचार्य) से शिक्षा दिया गया हो।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

(गीता० २।२९)

आश्चर्य की तरह कोई इस को देखता है, वैसे ही आश्चर्य की तरह बतलाने वाला बतलाता है। और आश्चर्य की तरह ही इस को सुनने वाला सुनता है, सुन कर भी इस को कोई जानता नहीं है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

(गीता० ७। ३)

हजारों मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि के लिये यत्न करता है, और यत्न करने वाले सिद्धों में से भी कोई विरला ही परमात्मा को ठीक २ जानता है।

उसकी प्राप्ति के बाहिरङ्ग साधन।

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन ॥ (बृह० ४। ४। २२)

इस आत्मा को ब्राह्मण वेद के पढ़ने से जानना चाहते हैं, तथा यज्ञ से, दान से, निराहार (अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से रोकने रूपी) तप से।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांऽसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

(कठ० २। १५)

सारे वेद जिस पद का अभ्यास करते हैं, सारे तप जिस को बतलाते हैं, जिस की इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करते हैं, वह पद मैं तुझे संक्षेप से बतलाता हूं, वह ओम् है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

(गीता० १८ । ४५)

अपने २ कर्म में तत्पर पुरुष सिद्धि को पालेता है ॥

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है, कि जो जिस का कर्तव्य है, उसका पालन करना उस परमात्मा के निकट लेजाता है।

अन्तरङ्ग साधन } तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति ॥ (बृह० ४।४।२३)

इसलिये ऐसा जानने वाला (पुरुष) शान्त, (मन के क्षोभों से रहित हुआ) दान्त (मन को सिधाया हुआ), विरक्त सहनशील हो कर आत्मा में ही आत्मा को देखता है ।

सत्येनलभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् । अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयोहि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

(मुण्ड० ३ । १ । ५)

सच्चाई, तप, यथार्थ ज्ञान और ब्रह्मचर्य से यह आत्मा सदा पाया जाता है, जो शरीर के अन्दर शुद्ध ज्योतिर्मय है, जिसको वह यतिजन जानते हैं, जिनके दोष क्षीण होगए हैं ।

इस प्रकार इन साधनों से युक्त हो कर पुरुष ब्रह्म का विचार करे । ज्यों २ उस का अन्तःकरण शुद्ध होता जायगा,

त्यों २ उसकी वृत्तियां अन्तर्मुख होती जाएंगी, बहिर्मुख वृत्तियों के कारण ही यह अपने आप को भूला हुआ है, जब यह अन्तर्मुख होगा, तो इस को अपने आप की भूल दूर होने लगेगी, यहां तक कि यह सारी ही भूल दूर हो जाएगी, आत्मा प्रकाशेगा, और तब आत्मा के अन्दर परमात्मा प्रकाशेगा।

ब्रह्म के साक्षाद् दर्शन } आश्चर्य जिस का वर्णन और आश्चर्य जिस का चिन्तन, उसके साक्षाद् दर्शन, यह कितनी आश्चर्य की बात है। जहां इन्द्रियों की पहुंच नहीं, उस के साक्षाद् दर्शन, सचमुच यह आश्चर्यमय वार्ता है। पर है सच्ची। तुम इस ओर जब आगे बढ़ोगे, तभी इस को सत्य पाओगे, यह सदा सत्य रही है और सदा सत्य रहेगी।

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

(कठ० ६।९)

इस का रूप (आंख से) देखने के लिये नहीं है, न कोई आंख से इस को देख सकता है, यह हृदय से, बुद्धि से, मन से प्रकाशित होता है, जो इसे जानते हैं, वह अमृत हो जाते हैं।९।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवै-स्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध-

सत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

(मुण्ड० ३।१।८)

न वह आंख से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से, न ही और किसी इन्द्रिय से किन्तु ज्ञान की निर्मलता से जब इस का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब वह उस निरवयव निरञ्जन पर ध्यान जमाता हुआ उस को देख लेता है ।

ब्रह्म के शबल स्वरूप और उसके शुद्धस्वरूप का दर्शन ।

ब्रह्म के शबल और शुद्ध स्वरूप का वर्णन पहले आ चुका है । उस के जिस स्वरूप में तुम मग्न होगे, उसी के दर्शन होंगे । पर यह याद रक्खो, शबल स्वरूप के दर्शन शुद्ध अन्तःकरण से होते हैं, और शुद्ध के दर्शन आत्मा से होते हैं । बाह्य इन्द्रिय उस की महिमा को हमारे अन्दर ले जाने के द्वार हैं, यदि हमारे पास बाह्य इन्द्रिय न होते, तो हम उस की इस महिमा को न देख पाते, जो हमारे सामने पीछे दायें बायें नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई है । इस सारी महिमा के अन्दर हमारा प्रियतम विराजता है । इन्द्रियां उस की महिमा को तो हमारे सामने ले आती हैं, पर उस के साक्षाद् दर्शन फिर भी बाकी रहते हैं । इन्द्रियों ने तो अपना काम कर दिया है, जब वह तुम्हारे प्रियतम की महिमा को तुम्हारे पास ले आई हैं, अब उस महिमा वाले के दर्शन के लिये तुम्हारा चित्त काम करेगा । याद रक्खो, जब आंख में त्रुटि होती है, तो उसके आगे उपनेत्र (चश्मा) लगाते हैं, अब यद्यपि पुरुष दूर तक देख

सकता है, और सूक्ष्म वस्तुओं को देख सकता है, पर यह देखने की शक्ति अब भी आंख की है, उपनेत्र की नहीं है। ठीक इसी तरह यह आंख भी अन्तःकरण के आगे एक चश्मा है। वस्तुतः यह देखने की शक्ति अन्तःकरण में है, और आंख उस के आगे द्वार है। जब इस की मैल धुल जाती है, और शुद्ध हो जाता है, तो अब इस को बाहर के द्वार की अपेक्षा नहीं रहती, अपने आप सब कुछ देखता है, यही दिव्यदृष्टि है, इसी दिव्यदृष्टि से उस महिमा वाले के दर्शन होते हैं—

मनोऽस्य दैवं चक्षुः। स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते। ५। य एते ब्रह्मलोके। ६। (छान्दो० ८। १२)

मन इस का दैवनेत्र (दिव्यदृष्टि) है, वह इस दैवनेत्र मन से इन कामनाओं को देखता हुआ आनन्द भोगता है। ५। जो यह ब्रह्मलोक में हैं। ६।

भगवान् श्रीकृष्ण ने भी विराट् स्वरूप का दर्शन कराते समय अर्जुन को कहा है—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥
(गीता ११। ८)

पर तू इसी अपनी आंख से विराडात्मा को नहीं देख सकेगा, मैं तुझे दिव्यनेत्र देता हूं, देख मेरे योग के बल को। ८

सो उस के शबल स्वरूप का दर्शन शुद्ध अन्तःकरण द्वारा होता है। जहां कहीं भी चित्त द्वारा उस के दर्शन बतलाए हैं, वहां सर्वत्र शबल स्वरूप के दर्शन से अभिप्राय है।

ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप के दर्शन

उस के शबल स्वरूप की उपासना और दर्शन चित्त द्वारा होते हैं, पर शुद्ध स्वरूप मन की पहुंच से परे है। उस शुद्ध ब्रह्मतत्त्व को चित्त से नहीं, किन्तु शुद्ध आत्मतत्त्व से ही देख सकते हैं, और किसी की वहां पहुंच नहीं, और आत्मतत्त्व शुद्ध उस समय होता है, जब यह चित्त से विविक्त हो जाता है (निखिर जाता है)। इसी को योगदर्शन में चितिशक्ति (आत्मा) का अपने स्वरूप में अवस्थित होना कहा है। जैसे नेत्र के आगे चश्मा है, इसी प्रकार चित्त के आगे नेत्र हैं, और चित्त आत्मा के आगे चश्मा है, इन में से देखने वाला है, न नेत्र है, न चित्त है, यह सब चश्मा ही चश्मा है। सच्चा देखने वाला इन सब के पीछे आत्मा है, उसे अपने बाहर देखने के लिये चित्त की ज़रूरत है, पर अपने आप को वा अपने अन्दर देखने के लिये चित्त की ज़रूरत नहीं। चित्त से हट कर वह अपने आप को देखता है, और ज्यूंही वह अपने आप को देखता है, अपने अन्दर अपने परमात्मा को देखता है। परमात्मा के दर्शन के लिये उसे कोई अलग उपाय नहीं करना पड़ता। वस्तुतः सारा उपाय अपने स्वरूप तक पहुंचने में है, उसके आगे ब्रह्म के दर्शन स्वतः सिद्ध हैं। इसीलिये उपनिषदों में बहुधा तो ब्रह्मतत्त्व तक पहुंचाकर ब्रह्मविद्या को समाप्त किया

है, तथापि कहीं २ आत्मतत्त्व तक पहुंचा कर ही समाप्त कर दिया है ।

इस का सारांश } इस का सारांश यह है, कि आत्मा चित्त के साथ शबल होकर उसके शबल स्वरूप को देखता है, और शुद्ध होकर उसके शुद्ध स्वरूप को देखता है । चित्त गुणमय है, गुणों से परे उस की पहुंच नहीं, इस लिये चित्त से उपासना शबल की होती है, और दर्शन भी उसी के होते हैं, फिर उस के अनुग्रह से आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो कर अपने अन्दर उस के शुद्ध स्वरूप को देखता है । इसी लिये जहां आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व के देखने का वर्णन है, वहां यह कहा है—' सर्वतत्त्वैर्विशुद्धम् ' (श्वेता० २ । १५) सो यह बात लक्ष्य में रखकर उसके दर्शन के रहस्य को समझना चाहिये ।

इस दुनिया की सैर करते हुए आत्मा को अपना परम लक्ष्य परमात्मा बनाना चाहिये । } आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेवच । ३ । इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः । ४ ।

आत्मा को रथ का मालिक (रथ पर सवार) जान

और शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि जान और मन को लगाम।३। इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं, और विषय उन में सड़कें हैं। शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त (आत्मा) को बुद्धिमान् भोक्ता कहते हैं *।४।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।५। यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रयाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।६।

अब वह जो विज्ञानवान् नहीं होता, और जिस का मन (लगाम) कभी जुड़ा हुआ (बुद्धि के हाथ में पकड़ा हुआ) नहीं होता, उसके इन्द्रिय (घोड़े) वस में नहीं होते हैं। जैसे दुष्ट घोड़े सारथि के बस में नहीं होते हैं।५। पर वह जो

---

* शरीर रथ है, जिस में बैठ कर आत्मा इस दुनिया की सैर करता है, बुद्धि सारथि है, जो इस रथ को चलाती है, बुद्धि के हाथ में मन की लगाम है, जिस से वह इन्द्रियों (इस रथ के घोड़ों) को वस में रखती है, इन्द्रिय घोड़े हैं, जो इस रथ को खींचते हैं, जगत् के दृश्य सड़कें हैं, और आत्मा इस सजे सजाए रथ में बैठ कर इन सारे दृश्यों को देखता है।

विज्ञान वाला है, और जिस का मन सदा जुड़ा हुआ (एकाग्र बुद्धि के हाथ में दृढ़ पकड़ा हुआ) होता है, उस के इन्द्रिय बस में होते हैं, जैसे अच्छे (सिधाए हुए) घोड़े सारथि के (बस में होते हैं) । ६ ।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न सतत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति ।७।
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदाशुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।८।

जो विज्ञानवान नहीं होता है और मन वाला नहीं (मन की लगाम जिस के हाथ में नहीं) और अपवित्र है, वह उस पद को (उस स्थान को, जहां पहुंचना है, अर्थात् विष्णु का परमपद) नहीं पहुंचता है, अपितु संसार (जन्म मरण के चक्र) को प्राप्त होता है ।७। पर वह जो विज्ञानवान् है, मन वाला है, और सदा पवित्र है, वह निःसंदेह उस पद को प्राप्त होता है, जिस से फिर नहीं जन्मता है । ८ ।

विज्ञानसारथियस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः । सो
ऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।।९।

जिस पुरुष की बुद्धि पूरा सारथि है, और मन की लगाम उसके हाथ में है, वह अपने मार्ग के पार पहुंच जाता है, और वह है विष्णु का परमपद (सब से ऊंचा स्थान) ।९।

मुक्ति के मार्ग की मनजलें बतलाते हैं

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः । १० । महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः । ११ । एष सर्वेषु भूतेषु गूढो ऽऽत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः । १२ ।

(कठ० ३)

इन्द्रियों से परे अर्थ हैं, अर्थों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे महान् आत्मा (महत्तत्व) है । १० । महत्तत्व से परे अव्यक्त (प्रकृति) है, अव्यक्त से परे पुरुष है । पुरुष से परे कुछ नहीं है, वह काष्ठा (हद) है, वह सब से परली गति (पहुंच, मनज़ल) है । ११ । यह आत्मा सब भूतों में छिपा हुआ है, बाहर नहीं प्रकाशता है, हां यह सूक्ष्मदर्शी लोगों को सूक्ष्म (अन्दर धस जाने वाली) बुद्धि से दीखता है * । १२ ।

---

* स्थूल जगत् में हम रहते हैं, परमपद (मुक्ति) पर पहुंचने के लिये यहां से हमें यात्रा अरम्भ करनी है । इस यात्रा का अभिप्राय यह है, कि हम स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम में प्रवेश करते हुए प्रकृति से भी परे परम-

परमात्मा के शुद्ध स्वरूप के दर्शन केवल आत्मा से होते हैं, न कि चित्त से

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे (केन० १।३) यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥ (तैत्ति० २।९)

न वहां नेत्र पहुंचता है, न वाणी, और न ही मन, हम

- सूक्ष्म जो चेतन है, वहां तक पहुंच जाएं। सो इस यात्रा में सब से पहली मनज़ल इन्द्रिय हैं क्योंकि अदृश्य हैं। दूसरी मनज़ल अर्थ अर्थात् तन्मात्र=शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूप तन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र, तीसरी मनज़ल मन है, इसी प्रकार इससे अगली मनज़लों अर्थात् बुद्धि महत्तत्त्व और अव्यक्त की मनज़लों से पार हो कर वह चेतन पर पहुंचता है। यही सूक्ष्मता की भी हद है, और पहुंच की भी हद है। सो यद्यपि यह चेतन आत्मा सब के अन्दर है, पर वहां पहुंच वही सकते हैं जो सूक्ष्म दर्शी बन कर इस सूक्ष्मता के सिलसिले के अन्दर २ घुसते चले जाते हैं।

नहीं समझते हैं नहीं जानते हैं, कि जिस प्रकार से उस का कोई अनुशासन कर सके। वह न मालूम है, न बेमालूम है, यह हमने पहले (ब्रह्मज्ञानियों) से सुना है, जिन्हों ने हमारे लिये उस की व्याख्या की। ३।

जहां से वाणियें बिना पहुंचे लौट आती हैं, और मन भी; ब्रह्म के उस आनन्द को जानता हुआ सब ओर से अभय हो जाता है।

इस प्रकार चित्त की पहुंच से परे बतला कर केवल आत्मा की पहुंच इस प्रकार बतलाई है—

यदा ऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ [श्वेता० २।५]

जब सावधान हो कर दीपक के सदृश आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व को देखे, जो (ब्रह्मतत्त्व) अजन्मा है, अटल है, और सारे तत्त्वों से अलग है, तब वह उस देव को जान कर सारी फांसों से छूट जाता है।

हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदाऽऽत्मविदो विदुः ॥ [मुण्डक० २।२।९]

सुनहरी परम कोश (हृदय कमल) में निर्मल निरव-

यव ब्रह्म है, वह शुभ्र है, ज्योतियों का ज्योति है, उस को वह जानते हैं जो आत्मा (अपने आप) को पहचानते हैं।

जब वह उस विशुद्ध देव के दर्शन पालेता है, तो फिर उस को दोनों स्वरूपों के दर्शन में स्वतन्त्रता हो जाती है, वह उस को अपने स्वरूप में भी देखता है, और जगत के रचने और प्रबन्ध करने में

अब उसको शुद्ध और शबल दोनों रूपों के देखने में स्वतन्त्रता होती है।

तत्पर भी देखता है। सो वह शुद्ध को देखता हुआ शबल को देखता है और शबल को अनुभव करता हुआ शुद्ध को अनुभव करता है। इसी लिये शुद्ध के प्रकरण में शबल और शबल के प्रकरण में शुद्ध का वर्णन पाया जाता है। अनुभव की इस अवस्था में ऋषि ने कहा है—

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि॥ [छान्दो० ८।१३।१]

मैं श्याम (शुद्ध) से शबल को प्राप्त होता हूं और शबल से श्याम को प्राप्त होता हूं। घोड़ा जैसे रोमों को झाड़ता है, इस तरह पाप को झाड़ कर, चन्द्र की तरह राहु (पृथिवी की छाया) के मुख से छूट कर (जैसे छाया से छूट कर चन्द्रमा चमकता है, वैसे अविद्या के अन्धेरे से छूट कर

चमकता हुआ मैं) शरीर को झाड़ कर कृतकृत्य हुआ अविनाशी ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हूं ।

शुद्ध और शबल यह अवस्था का भेद है, ब्रह्म इन दोनों में अभिन्न है ।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।१०।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।११।

(कठ० ४)

जो यहां (हृदय में शुद्ध स्वरूप) है, वही वहां (द्यौ आदि में शबलरूप) है, और जो वहां है, वही फिर यहां है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, जो इस में भेद सा देखता है । १० । मन से ही इस को पाना चाहिये, और तब इस में कोई भेद नहीं है, वह मृत्यु से मृत्यु को जाता है, जो इस में भेद सा देखता है । ११ ।

उसको जानकर सब कुछ उसी से प्रकाशित होता हुआ दीखता है और वह सर्वत्र प्रकाशता है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।१२।

ब्रह्मैवेद ममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।११। [मुण्ड० २।२]

न वहां सूर्य चमकता है, न चन्द्र और तारे, न ही यह बिजलियें चमकती हैं, यह अग्नि तो कहां ? यह सब उस के चमकने पर चमकता है, हां यह सब उस की चमक से चमकता है । १० । ब्रह्म ही यह अमृतरूप सामने है, ब्रह्म पीछे है, ब्रह्म दाएं और बाएँ है, यह नीचे और ऊपर फैला हुआ है; ब्रह्म ही यह सब कुछ है, यह सब से उत्तम है । ११ ।

उसको जानकर आत्मा शोक को तैर जाता है और उसके साथ समता को लाभ करता है ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति । १ । समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमशीमस्य महिमान मिति वीतशोकः । २ । यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्य-मुपैति

। ३ । प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी । आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः । ४ ।

(मुण्ड० ३ । १)

दो पक्षी (पंछी) * जो सदा साथ रहने वाले मित्र हैं, दोनों एक वृक्ष को आलिङ्गन किये हुए हैं, उन में से एक स्वादु फल को खाता है, दूसरा न खाता हुआ केवल देखता ही है । १ । इसी वृक्ष पर (जिस पर परमात्मा है) पुरुष निमग्न हुआ, असमर्थता (ज्ञान के बल के अभाव) से धोका खाता हुआ शोक में पड़ा है । जब यह उस प्रियतम दूसरे (साथी) ईश (मालिक) को देखता है, तब इस का शोक मिट जाता है । २ । जब यह देखने वाला सुनहरी रङ्ग वाले, रचनेहार, मालिक, पूर्ण पुरुष, ब्रह्म (हिरण्य गर्भ) के योनि (चश्मे) को देखता है, तब यह विद्वान् पुण्य पाप को झाड़ कर निरञ्जन (क्लेशों से बचा हुआ) हो कर परमतुल्यता को प्राप्त होता है । ३ । सचमुच जीवन है जो सब भूतों के द्वारा चमक रहा है, जो इस को समझते हैं, वह असली विद्वान्

---

* दो पक्षी, जीवात्मा और परमात्मा हैं । वृक्ष, शरीर है, जिस पर इन दोनों का घोंसला है, जीवात्मा इस में अपनी कमाई के फल भोगता है, और परमात्मा उस का साक्षी है । मिलाओ ऋग्० १ । १६४।२० । श्वेता० ४ । ६ ; कठ० ३ । १ ; निरुक्त १४ । ३० ।

होता है, (न कि बातें बनाने वाला)। आत्मा में खेलता हुआ, आत्मा में रमण करता हुआ और अपने कर्तव्य को पूर्ण करता हुआ यह है, जो ब्रह्म के जानने वालों में सब से श्रेष्ठ है। ४।

इसको जानकर हृदय की गाँठें खुल जाती हैं। — भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

(मुण्ड० २।२।८)

उस समय हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है सारे संशय कट जाते हैं और कर्म क्षीण हो जाते हैं, जब उस पर (ज्येष्ठ ब्रह्म, शुद्ध ब्रह्म) और अवर (छोटे, शबल ब्रह्म) को देख लिया है।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ॥

(छान्दो० ७।२६।२)

जब मनुष्य का आहार * शुद्ध होता है, तो उस का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, और जब अन्तःकरण शुद्ध होता है, तो स्मृति (भूमा परमात्मा की याद) अटल हो जाती है, और जब स्मृति पक्की होजाती है, तब सारी गाँठें खुलजाती हैं।

---

* इन्द्रियों का आहार, शब्द आदि विषयों का भोग यह जब राग द्वेष मोह रूप से शुद्ध होता है।

सूक्ष्मदर्शी के चेहरे पर एक नई चमक आ जाती है जिसको सूक्ष्म दर्शी ही पहचान सकते हैं

हम यह देखते हैं, कि मनुष्य के अन्दर के भाव उस के चेहरे को बदल देते हैं। पुरुष वही है, पर स्वस्थ अवस्था में जो उस का चेहरा देखते थे, उसे बदला हुआ पाते हैं, जब कि वह क्रोध की अवस्था में है। इसी प्रकार प्रेम के अनुभव काल में एक और ही प्रकार की रंगत उसके चेहरे पर आजाती है, शान्ति में शान्ति बरसती है, और क्रोध में क्रोध; प्रेम में प्रेम बरसता है, और द्वेष में द्वेष; चिन्ता में चिन्ता और हर्ष में हर्ष; भय में भय और अभय में अभय। निदान हरएक भाव उस के चेहरे पर एक रूप धार कर प्रकट होता है, और उस से उस का चेहरा बदल जाता है। यह बदलना दोनों रूपों में होता है, अच्छा और बुरा, सुहावना और कोझा। सात्विक भावों में चेहरे पर कान्ति आजाती है, और तामस भावों में अन्धेरा छा जाता है। यदि तुम परखते रहोगे, तो यह चिन्ह तुम्हें बड़े स्पष्ट प्रतीत होंगे, और तुम यहां तक देखोगे, कि जिस तरह अच्छे भावों में उतने काल के लिये अवश्य सौन्दर्य आजाता है, इसी तरह सदा अच्छे भावों में रहने से सदा का सौन्दर्य आजाता है, कुरूप और कुडौल पुरुष भी सुरूप और सुडौल बन जाता है। इन्हीं भावों की तरह धर्म के अनुष्ठान से भी मनुष्य के चेहरे पर एक नया तेज आता है, शास्त्रकारों ने इस तेज का नाम ब्रह्म-वर्चस रक्खा है। और फिर धर्म के अनुष्ठान की तरह ब्रह्म की पहचान भी उस के चेहरे पर एक अद्भुत नया प्रकाश ले आती है, जिस को ब्रह्मदर्शी झट पहचान लेते हैं, सत्यकाम

को जब श्रद्धा और तप के प्रभाव से आचार्य के पास आने से पहले ही ब्रह्म की पहचान हो गई थी, तो आचार्य ने उसे देखते ही कहा—

ब्रह्मविदिव वै सोम्य ! भासि, कोनुत्वाऽनुशशासेति । (छान्दो० ४।९।२)

हे सौम्य ! तू ब्रह्म के पहचानने वाले की तरह चमकता है किसने तुझे शिक्षा दी है ।

इसी प्रकार सत्यकाम ने भी अपने शिष्य उपकोसल को कहा था—

ब्रह्मविद इव सौम्य ते मुखं भाति कोनुत्वाऽनुशशासेति । (छान्दो० ४।१४।२)

हे सौम्य ! ब्रह्मवेत्ता के मुख की तरह तेरा मुख चमक रहा है, किसने तुझे अनुशासन किया है ।

ब्रह्मदर्शी सब कामनाओं से ऊपर होकर विचरता है

एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति । एतमेव प्रव्राजिनो लोक मिच्छन्तः प्रव्रजन्ति । एतद्धस्म वै तत्पूर्वे विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते, 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयंलोक' इति । ते हस्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैष-

णायाश्च व्युत्थायाथभिक्षाचर्यं चरन्ति ।

(बृह० । ४ । ४ । २२)

यही (परमात्मा) है, जिस को जान कर मुनि हो जाता है। यही वह लोक (दुनिया) है, जिस की इच्छा करते हुए परिव्राजक (संन्यासी) (घरों से) चले जाते हैं। हां यही है, जिस को जान कर कई पहले विद्वानों ने सन्तान की भी कामना नहीं की (उन्हों ने कहा) 'हम सन्तान से क्या करेंगे, जिन के पास हमारा यह आत्मा यह लोक है'। वह पुत्रों की इच्छा से धन की इच्छा से और लोकों की इच्छा से ऊपर उठ कर भिक्षा वृत्ति से विचरते रहे हैं।

वह पुण्यपाप की पहुंच से ऊपर हो जाता है। } एतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमिति । उभे उ हैवैष एते तरति, नैनं कृताकृते तपतः ।२२। तदेतदृचाभ्युक्तम्-एष नित्योमहिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान् । तस्यैव स्यात् पदवित् तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन इति । तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं

पश्यति। नैनं पप्मा तरति, सर्वं पाप्मानं तरति। नैनं पाप्मा तपति, सर्वं पाप्मानं तपति। विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति।२३

(बृह० ४। ४)

इस कारण से मैंने यह भलाई की है, वा इस कारण से मैंने यह बुराई की है, इन दोनों (ख्यालों) से वह पार हो जाता है, इस को किया हुआ और न किया हुआ नहीं तपाते हैं *। २२।

सो यह ऋचा से कहा गया है-'यह (नेति नेति से वर्णित) ब्राह्मण की महिमा सदा एकरस है, न कर्म से बड़ी होती है, न छोटी होती है, चाहिये, कि उसी का खोजी बने, उस को खोज कर पाप कर्म से लिप्त नहीं होता है'।

इसलिये ऐसा जानने वाला पुरुष शान्त, दान्त, विरक्त, सहनशील, और समाहित हो कर आत्मा में ही आत्मा को देखता है, सब को आत्मा देखता है। पाप इस को तर नहीं जाता, यह हरएक पाप को तर जाता है, पाप इस को नहीं तपाता, यह हरएक पाप को तपाता है। पाप से रहित, मल से रहित, और संशय से रहित हुआ (सच्चा) ब्राह्मण हो जाता है। २३।

---

* न तो किया हुआ कर्म उसे बन्धन में लाता है, और न न किया हुआ उसके जीवन में कोई त्रुटि लाता है।

यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते, एव मेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते इति ।

(छान्दो० ४ । १४ । ३)

जिस तरह कमल के पत्ते पर जल नहीं चिमटते, इसी तरह इस विद्या के जानने वाले को पाप कर्म नहीं चिमटता है ।

एतं ह वाव न तपाति । किमहꣳसाधु नाकरवम् । किमहं पापमककरवमिति ॥

(तैत्ति० २ । ९)

सचमुच इस को यह नहीं तपाता है, कि क्यों मैंने नेकी न की, क्यों मैंने बुराई की * ।

---

* मरणकाल में यह दोनों भय जो मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं, कि हा कष्ट ! मैंने यूंही जन्म खो दिया, कुछ भी पुण्य सञ्चय न किया, जो इस समय से पहले मेरे हाथ में था, और कि हा शोक ! मैंने पाप कमाया, जिस को अब साथ लिये जाता हूं, जब कि और सब कुछ यहीं छोड़ कर चला हूं, यह दोनों भय उस के लिये नहीं रहते, जो यहां ब्रह्म के आनन्द को अनुभव कर लेता है । वह पाप पुण्य दोनों से ऊंचा हो जाता है । जो भावना कि कर्मों को पुण्य और पाप बनाती है, यह उस से ऊपर हो गया है । उस के जिन कर्मों को हम पुण्य समझते हैं, यह उस के स्वभाविक होते हैं, न

स ब्राह्मणः केनस्याद् ? येनस्यात् तेने-दृश एव, अतोऽन्यदार्तम् ॥ (बृह० ३।५।१)

आत्मज्ञानी के लिये रहने सहने आदि का कोई नियत बन्धन नहीं।

(सच्चा) ब्राह्मण किस (आचार व्यवहार) से रहे ? जिस से रहे, उस से एक ही जैसा है, * इस के विना सब कुछ दुखिया है।

ब्रह्मदर्शी शोक और मोह से पार हो जाता है।

यस्मिन् सर्वाणिभूतान्यात्मै-वाभूद्विजानतः। तत्र को-मोहः कः शोक एकत्व मनुपश्यतः। (ईश ७)

कि पुण्य की भावना से। और पाप कर्म को तो उसी समय दूर हटा चुका है, जब वह ब्रह्म की प्राप्ति के यत्न में था; क्योंकि 'नाविरतो दुश्चरितात्' जो दुश्चरित से नहीं हटा, वह उसे जान नहीं सकता।

* यह अभिप्राय नहीं, कि वह विरुद्ध आचार व्यवहार भी कर सकता है, क्योंकि विरुद्ध आचार व्यवहार तो आत्मा की दुर्बलता में होता है, जिस को वह पहले ही तर चुका है, किन्तु अभिप्राय यह है, कि उस के लिये किसी नियत रीति पर रहने सहने आदि का बन्धन नहीं, नियमों के बन्धन बहिर्मुखता से रोक कर अन्तर्मुख करने के लिये होते हैं, जिस की लौ सर्वदा आत्मा में लगी है, वह हर हालत में एक ही जैसा है।

जब (ब्रह्म की) एकता को अनुभव करते हुए विज्ञानी के लिये सारे भूत आत्मा ही हो गया, वहां क्या शोक और क्या मोह है ?

तरति शोकमात्मवित् (छान्दो० ७।१।२)

आत्मा को जानने वाला शोक को तर जाता है।

ब्रह्मदर्शी सब कुछ देखता है, पर वह रोग मृत्यु और दुःख को नहीं देखता है

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोतदुःखताम् । सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः ॥

(छान्दो० ७ । २६ । २)

(ब्रह्म का) देखने वाला मृत्यु को नहीं देखता है, न रोग और न ही दुःख को। देखने वाला सब कुछ देखता है,* और सब प्रकार से सब को प्राप्त होता है।

ब्रह्म को देखता हुआ वह कौनसी अद्भुत महिमा को देखता है।

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृति रेषां लोकाना मसम्भेदाय । नैतंसेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्नशोको न सुकृतं न दुष्कृतम् । १ । सर्वे पाप्मानोऽतोनिवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्म-

---

* उस से कोई भेद छिपा नहीं रहता।

लोकः । तस्माद्वाएतꣳसेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्न-
नन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी
सन्ननुपतापी भवति । तस्माद्वा एतꣳसेतुंती-
र्त्वाऽपिनक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते । सकृद्विभातो
ह्येवैष ब्रह्मलोकः तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मच-
र्येणानु विन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳ-
सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । २ ।

(छान्दो० ८ । ४)

यह आत्मा एक सेतु (पुल, बन्ध) है; एक हद है, जिस से कि यह लोक गड़बड़ा न जाएं । इस सेतु को दिन और रात नहीं उलांघते (उस से वरे चक्र खाते हैं) न जरा, न मृत्यु; न शोक, न पुण्य, न पाप । १ । सारे पाप इस से वापिस लौटते हैं, क्योंकि यह ब्रह्मलोक पाप से पृथक् (बरी) है, हां सचमुच इस सेतु को तर कर वह यदि अन्धा है, तो अनन्ध हो जाता है, बींधा हुआ (जख्मी) है, तो अविद्ध (न बींधा हुआ, न जख्मी) हो जाता है । रोगी है, तो अरोगी हो जाता है। सो जब पुरुष इस सेतु से पार होता है, तो रात भी दिन ही बन जाती है (अन्धेरा सारा दूर हो जाता है) क्योंकि यह ब्रह्मलोक एक बार ही (एक दम ही,) सदा के लिये चमका हुआ है ।

यह ब्रह्मलोक केवल उन्हीं लोगों का है, जो इसे ब्रह्मचर्य से ढूंढते हैं, और उन्हीं की सब लोकों में स्वतन्त्रता होती है। ३।

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन।
देवास्तेनाहं सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणा।२।

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति, सकृद्दिवा हैवास्मै भवति, य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद।३। (छान्दो० ३।११)

वहां न कभी अस्त होता है न कभी उदय। हे देवो! मैं उस सत्य ब्रह्म से कभी परे न होऊं।२। वह जो वेद के इस रहस्य को ठीक २ जान लेता है, उस के लिये न कभी उदय होता है, न अस्त होता है, हां उस के लिये एक वार ही दिन हो जाता है (हमेशह का दिन चढ़ जाता है)।

ब्रह्मदर्शी सब ओर से अभय हो जाता है. } आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन। (तै० २।९)

अभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः। स होवाच जनको वैदेहः 'अभयं त्वा

गच्छाद् याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेद-यसे । नमस्तेऽस्तु ' (बृह० ३ । १ । ४)

ब्रह्म के आनन्द को जानता हुआ सब ओर से अभय हो जाता है।

याज्ञवल्क्य ने (ब्रह्म विद्या का उपदेश करके) कहा, ' हे जनक तू अभय पद को प्राप्त हुआ है ' । जनक वैदेह ने कहा ' तुझे अभय प्राप्त हो जो तू हे भगवन् हमें अभय बतलाता है, तुझे नमस्कार हो ' ।

यदाह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्ते ऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति ॥ (तैत्ति० २।७)

जब यह इस (हृदयस्थ ब्रह्म) में अभय प्रतिष्ठा (स्थिति) पालेता है, जो (ब्रह्म) अदृश्य है, अशरीर है; अनिरुक्त है, और (किसी से) सहारा दिया हुआ नहीं है, तब वह अभय पद में पहुंच जाता है।

मानो यहां पहुंच कर उस की यह प्रार्थना पूर्ण रूप में सफल हो जाती है, जो भगवान् वेद ने इस तरह दिखलाई है।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे । अभयं पश्चादभयं पुरस्तादु-

त्तरा दधरादभयं नो अस्तु । अभयं मित्राद-भयम मित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात् । अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ।

अन्तरिक्ष हमें अभय करे, यह दोनों द्यौ और पृथिवी हमें अभय करें, अभय हमें पीछे से हो, अभय सामने से हो, अभय ऊपर से हो और अभय नीचे से हो। मित्र से अभय हो और अमित्र से अभय हो, ज्ञात से अभय हो और परोक्ष से अभय हो। रात्रि अभय हो और दिन अभय हो। सारी दिशाएं मेरी मित्र बनजाएं।

जीवन्मुक्ति } एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् । १२ । नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।१३। (कठ० ५)

'अकेला सब को वश में रखने वाला, सब भूतों का

अन्तरात्मा जो एकरूप (एक शकल, प्रकृति) को अनेक प्रकार का बना देता है, उस को जो धीर पुरुष आत्मा में स्थित देखते हैं, उन को सदा का सुख होता है, दूसरों को नहीं। १२। वह जो नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन है, जो अकेला ही सब की कामनाओं को रचता है, उस को जो धीर पुरुष आत्मा में स्थित देखते हैं, उन को सदा की शान्ति होती है दूसरों को नहीं। १३।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि-श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म सम-श्नुते। १४। यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्य-नुशासनम् ॥१५॥ (कठ० ६)

जब यह सारी कामनाएं जो इस के हृदय में रहती हैं, छूट जाती हैं, तब मर्त्य (मरने वाला मनुष्य) अमृत होता है, यहां ब्रह्म को प्राप्त होता है। १४। जब यहां हृदय की सारी गांठें खुल जाती हैं, तब मर्त्य अमृत होता है, सारी शिक्षा इतनी दूर तक ही है (इस से आगे नहीं)। १५।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्। ७। न

चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवै स्तपसा कर्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु-तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः । ८ । एषोऽणु रात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश । प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा । ९ । यं यं लोकं मनसा सं विभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्त-स्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः । १० ।

(मुण्ड० ३ । १)

वह बृहत् है, अचिन्त्यरूप है, और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर प्रतीत होता है; दूर से बड़ी दूर है, और वह यहां हमारे पास है; जो उसको देखरहे हैं उन के अन्दर यहां ही गुफा (हृदय) में दबा हुआ (खजाना) है । ७ । न आंख से जाना जाता है, न वाणी से, न दूसरे इन्द्रियों से, न तप से और न कर्म से, हां ज्ञान की निर्मलता से जब इस का अन्तःकरण शुद्ध होता है, तब यह उस निरवयव पर ध्यान जमाता हुआ उस को देख लेता है । ८ । यह अणु आत्मा चित्त से जानने योग्य है, जिस में प्राण पांच प्रकार से सहारा लिये है, प्रजाओं का

हर एक चित्त प्राणों (इन्द्रियों) से बुना हुआ है, जिस के शुद्ध होते ही यह आत्मा महिमा वाला बन जाता है । ६ । शुद्ध चित्त पुरुष जिस २ लोक का मन से चिन्तन करता है, और जिन कामनाओं को चाहता है (अपने लिये वा दूसरों के लिये) उस २ लोक को जीतता है, और उन कामनाओं को प्राप्त होता है इस लिये विभूति की कामना वाले को सदा उस की पूजा करनी चाहिये, जिस ने आत्मा को जान लिया है । १० ।

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः । ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥

(मुण्ड० ३ । २ । ५)

ऋषिजन जिन्हों ने इस को पालिया है, वह ज्ञान में तृप्त होते हैं, वह अपने आप को जाने हुए हैं, उन के राग दूर हो गए हैं, और वह शान्त हैं, हां वह धीर पुरुष हैं जो सब ओर से सब जगह पहुंचे हुए (परमात्मा) को पाकर और उसी में अपने आत्मा को लगा कर सब को ही चीर जाते हैं ।

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविण सवर्चसम् । सुमेधा अमृतोक्षितः ॥

(तैत्ति० १ । १०)

मैं वृक्ष (संसार वृक्ष, जो विद्या से उखाड़ने योग्य है) का हिलाने वाला हूं । मेरी कीर्ति पर्वत के शिखर की नाई है। मैं वह हूं, जिस (के ज्ञान) का पवित्र (प्रकाश) ऊंचा उदय हुआ है, मानों कि सूर्य में है। मैं वह हूं, जो असली अमृत है, मैं चमकता हुआ धन (खजाना) हूं, मैं सुमेधा हूं, अमृत हूं, क्षीण न होने वाला।

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम् ॥ (एत० २ । १, ऋग्० ४ । २७ । १)

गर्भ में होते हुए ही मैंने इन देवताओं के जन्मों का पता लगा लिया है। सौ लोहे के पुरों (किलों) ने मुझे बन्द रक्खा, पर मैं (उन को तोड़ कर) ऐसे वेग से निकल आया हूं, जैसे बाज निकलता है *।

रसो वै सः । रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। (तैत्ति० २ । ७)

---

* आशय यह है, कि गर्भ में होते हुए ही अर्थात् बार२ जन्म ग्रहण करते हुए ही मैंने असली तत्व को पालिया है, सो यद्यपि जैसे कोई लोहे के किलों में बन्द किया जाए, इस तरह मुझे अनेक शरीरों ने बन्द रक्खा, पर अब मैं इन बन्धनों को तोड़ कर निकल आया हूं।

यह रस है, रस को पाकर ही यह आनन्द भोगता है ।

आत्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्याम् । न हवै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रियोरपहतिरस्त्य- शरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥
(छान्दो० ८ । १२ । १)

जब तक यह सशरीर है (शरीर के साथ एक हो रहा है, शरीर में आत्माभिमान रखता है), तब तक यह प्रिय और अप्रिय से पकड़ा (ग्रसा) हुआ है । जब तक यह सशरीर है, तब तक प्रिय और अप्रिय का विनाश नहीं होता है, पर जब अशरीर होता है (शरीर से अपने आप को अलग समझता है) तब इस को प्रिय और अप्रिय नहीं छूते हैं* ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ॥ (तैत्ति० २।१)

वह जो उस ब्रह्म (परब्रह्म, न कि अपर) को जानता है जो सत्य (सदा एक रस वर्तमान) ज्ञान (चेतन) और अनन्त है और हृदय की गुफा में परम आकाश (हृदयाकाश) में छिपा हुआ है, वह (जानने वाला) सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ सारी कामनाओं को भोगता है ।

---

* दुनिया के हर्ष शोक उस को नहीं छूते, किन्तु ब्रह्मानन्द को तो वह उपभोग करता ही है ।

विदेह मुक्ति } तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत; एव मेवेदं शरीरं शेते अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव ॥ (बृह० ४।४।७)

जैसे कि सांप की केंचुली मरी हुई फेंकी हुई वर्मी (चिउंटियों के बनाए हुए मट्टी के ढेर) पर पड़ी रहे, इसी प्रकार यह शरीर पड़ा रहता है. और अब यह आत्मा शरीर से रहित हुआ अमृत प्राण (अमर जीवन) है, ब्रह्म ही है, तेज (प्रकाश स्वरूप) ही है।

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये, अथ संपत्स्ये। (छान्दो० ६। १४।२)

उसके लिये उतनी ही देर है, जब तक वह देह से नहीं छूटता, इसके पीछे तब वह सत् (ब्रह्म) को प्राप्त होगा।

विदेहमुक्ति का सविशेष वर्णन } कर्म से ऊंचा दर्जा उपासना का है, और उपासना से ऊंचा दर्जा ज्ञान का है। कर्मों का फल कृष्णगति से चन्द्रलोक की प्राप्ति है, और उपासना का फल शुक्लगति से ब्रह्मलोक (अपर ब्रह्म, हिरण्यगर्भ के लोक) की प्राप्ति है, जहां फिर उस को परब्रह्म की प्राप्ति होती है, पर ज्ञान का फल साक्षात् परब्रह्म की प्राप्ति है।

ब्रह्मलोक का वर्णन } ब्रह्मलोक की प्राप्ति का मार्ग वही है, जो चौथे अध्याय में देवयान मार्ग

बतलाया है, वहां उस का पूरा २ वर्णन दे दिया है, सो यहां उसे न दुहरा कर केवल ब्रह्मलोक का ही वर्णन करते हैं:-

अरश्च हवै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितꣳ हिरण्मयम् । ३ । तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति, तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳसर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । ४ ।

(छान्दो० ८ । ५)

अर और ण्य यह दो समुद्र (सरोवर) ब्रह्मलोक में अर्थात् यहां से तीसरे द्यौ में हैं, और एक ऐरंमदीय सर है, और एक अश्वत्थ वृक्ष है, जिस से सोम बहता है । और वहां (हिरण्यगर्भ) की अपराजिता नामी एक पुरी है, और एक सुनहरी प्रभुविमित (प्रभु अर्थात् ब्रह्मा से बनाया हुआ मण्डप) है * । ३ ।

---

* यहां जो ब्रह्मलोक में अर और ण्य दो सरोवर और एक ऐरंमदीय (ऐरं=अन्न में पूर्ण, और मदीय=हर्ष का देने वाला) सर, और एक अश्वत्थ (पीपल) का वृक्ष, जिस से सोमरस वा अमृत बहता है, और अपराजिता पुरी और

अब वे लोग, जो ब्रह्मचर्य के द्वारा ब्रह्मलोक में वर्तमान अर और ण्य इन दो सरोवरों को ढूंढ पाते हैं, यह ब्रह्मलोक उन्हीं लोगों का है, और उन के लिये सब लोकों में स्वतन्त्रता होती है। ४।

स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं, तस्मिन् वसति शाश्वतीः समाः। (बृह० ५।१०।१)

वह उस लोक में पहुंचता है, जहां न शोक है न हिम (जड़ता) है, वहां वह हमेशह की बरसें रहता है।

स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वाज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳस्मरन्निदꣳ शरीरम्॥ (छान्दो० ८।१२।३)

वह इस शरीर को जिस में जन्मा था स्मरण न करता हुआ, वहां स्त्रियों के साथ, यानों के साथ वा ज्ञातियों के साथ हंसता खेलता और आनन्द मनाता हुआ विचरता है।

स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान्

सुनहरी मण्डप कहे हैं, यह सब ब्रह्मलोक में मानसरूप से प्रतीत होते हैं, न कि स्थूलरूप से और क्योंकि यह शुद्ध हुए अन्तःकरण के संकल्प से प्रकट होते हैं इस लिये निरतिशय सुख कारक होते हैं। (शंकराचार्य)

कामान् पश्यन् रमते।५। य एते ब्रह्मलोके।६।
(छान्दो० ८। १२)

वह कामनाएं जो ब्रह्मलोक में हैं इन को वह दैवनेत्र अर्थात् मन से देखता हुआ आनन्द मनाता है।

आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत् ततो भवति। आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम्। शान्तिसमृद्धम् (तैत्ति० १। ६)

वह स्वाराज्य को प्राप्त होता है, वह मन के पति (परमात्मा) को प्राप्त होता है। तब वह वाणी का पति हो जाता है, नेत्र का पति, श्रोत्र का पति, और विज्ञान का पति हो जाता है। इस से आगे बढ़ कर वह यह होता है, ब्रह्म*; जिस का शरीर आकाश है, स्वभाव सचाई है, वह इन्द्रियों में रमण करता है, मन में आनन्द वाला, शान्ति में पूर्ण है और अमृत है।

एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमां

---

* अर्थात् मुक्त होता है, मुक्ति में ब्रह्म के सदृश होने से ब्रह्म कहा जाता है।

लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसञ्चरन् । एतत् साम गायन्नास्ते—

हा३वु हा३वु हा३वु । अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादो३हमन्नादो३हमन्नादः । अहँश्लोककृदहँश्लोककृदहँश्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य । पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य ना३भायि । अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म् । सुवर्णज्योतिः । (तैत्ति० ३ । १०)

वह इस आनन्दमय आत्मा को प्राप्त हो कर कामान्नी और कामरूपी (कामनानुसार भोगों वाला और कामनानुसार रूप वाला) हो कर इन सारे लोकों में घूमता हुआ यह साम गाता हुआ बर्तता है—

अहो अहो अहो (आश्चर्य ! आश्चर्य !! आश्चर्य !!!) मैं अन्न हूं मैं अन्न हूं, मैं अन्न हूं ! (दूसरों के लिये भोग्य हूं) मैं अन्नाद (अन्न खाने वाला, भोगों का भोक्ता) हूं, मैं अन्नाद हूं, मैं अन्नाद हूं ! मैं श्लोककृत् हूं, मैं श्लोककृत् हूं, मैं श्लोककृत् हूं * ! मैं ऋत (सृष्टि के संचालक नियम) का प्रथमजा

* श्लोककृत्, श्लोक=अन्न और अन्नाद का मेल, इस

(पहली उत्पत्ति, सब से बड़ा बेटा वा बड़ा भाई) हूं। देव-ताओं से पहले मैं अमृत का नाभि (केन्द्र) हूं, जो मुझे देता है, वही मेरी रक्षा करता है। मैं उस को अन्न के तौर पर खाता हूं (उपभोग करता हूं) जो अन्न खाने वाला है (अर्थात् भोगों के भोक्ता भी मेरे लिये भोग देने वाले हैं) मैं सारे भुवन को दबाए हुए हूं, मैं सूर्य्य के तुल्य ज्योति हूं।

ब्रह्मलोक में पहुंचकर उनको परब्रह्म के दर्शन होते हैं।

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्ये-तेनैवाक्षरेण परं पुरुष मभि-ध्यायीत, स तेजसि सूर्ये स-म्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं हवै स पाप्मना विनिर्मुक्तः, स सामभि रुन्नी-यते ब्रह्मलोकं, स एतस्माज्जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते (प्रश्न० ५। ५)

जो फिर तीन मात्रा (अ, उ, म्,) वाले अक्षर से परम पुरुष का ध्यान करता है, वह तेज में-सूर्य में पहुंच कर जैसे सांप कैंचुली से छूट जाता है, इस प्रकार वह पाप से छूट

का करने वाला चेतनावान्। अथवा अन्नाद के लिये अनेक प्रकार से अन्न का संघात (मेल) करने वाला (शंकराचार्य) ; कीर्ति वाला (शंकरानन्द)।

जाता है, और उसे साम मन्त्र ब्रह्मलोक * को ऊपर ले जाते हैं, और वह वहां जो जीवघन † सब से परे है, इस से भी जो परे परम पुरुष (परब्रह्म) सारे ब्रह्माण्ड में स्थित है, उस को देखता है।

ब्रह्मलोक कहां है } उपनिषदों से यह बात स्पष्ट पाई जाती है, कि ब्रह्मलोक में जाने वाले पुरुष सूर्य को प्राप्त होने के पीछे ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं—

आदित्याद् वैद्युतं । तान् वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ॥

सूर्य से विद्युत् (बिजली) के स्थानों को (प्राप्त होते हैं) उन विद्युत् वासियों के पास अब एक मानस पुरुष आता है, वह उन को ब्रह्मलोकों में ले जाता है।

यत्रासौ केशान्तो विवर्तते । व्यपोह्य शीर्ष-कपाले । भूरित्यग्नौ प्रति तिष्ठति । भुवइति-वायौ सुवरित्यादित्ये महइति ब्रह्मणि ।

(तैत्ति० १।६)

---

* हिरण्यगर्भ का लोक, जिसे सत्यलोक कहते हैं।

† जीवघन=जीवन का भरा हुआ खिट्टा, अर्थात् हिरण्यगर्भ जो सारे देवताओं का एक जीवन है, और जो इस सारी रचना के पीछे है।

(व्याहृतियों का उपासक जब मरता है, तो) जहां यह बालों का मूल अलग २ होता है (मूर्धा में), वहां वह (जीवात्मा) सिर के दोनों कपालों को खोल कर (मूर्धा से निकल कर) भूः कहता हुआ अग्नि में प्रविष्ट होता है, भुवः कहता हुआ वायु में प्रविष्ट होता है, स्वः कहता हुआ सूर्य में प्रविष्ट होता है, महः कहता हुआ ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) में प्रविष्ट होता है।

सूर्य ब्रह्मलोक का द्वार है

सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा

(मुण्ड० १।२।११)

सूर्य के द्वार से वह वहां जाते हैं, जहां वह अमृत पुरुष (हिरण्यगर्भ) अविनाशि स्वरूप है।

स ओमिति वा होद्वामीयते। स यावत् क्षिप्येन्मन स्तावदादित्यं गच्छति। एतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम्।

(छान्दो० ८।६।५)

वह ओम् पर ध्यान जमाता हुआ जाता है (जब उस ने ब्रह्मलोक को जाना होता है, जो उस ने उपासना द्वारा जीता है) सो वह जितनी देर में मन फैंक जाता है, उतनी देर में सूर्य में पहुंच जाता है। क्योंकि यह (सूर्य) लोक (ब्रह्मलोक) का द्वार है जो ज्ञानियों के लिये खुला है, और अज्ञानियों के लिये बन्द है।

सूर्य में होकर वह कामियों के लोक को देखते हुए ब्रह्मलोक में जाते हैं ।

ब्रह्मलोक का द्वार जो सूर्य है, वह अज्ञानियों के लिये बन्द है, इस लिये केवल कर्मी दक्षिणायन से संवत्सर और संवत्सर से सूर्य को प्राप्त नहीं होते, किन्तु वह दक्षिणायन से पितृलोक, पितृलोक से आकाश और आकाश से चन्द्रमा को जाते हैं। पर ज्ञानियों के लिये यह द्वार खुला है। सो वह यद्यपि अपने मार्ग में कामियों के लोक (चन्द्रमा) को देखते हुए अपने लोक (ब्रह्मलोक) में जाते हैं, तथापि वह कर्मियों के मार्ग से कर्मियों के लोक में नहीं जाते, किन्तु पहले ब्रह्मलोक के द्वार में से निकल कर फिर कर्मियों के लोक को मुड़ते हैं—

आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति ।

(छान्दो० ५ । १० । २)

सूर्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से बिजली (के स्थानों) को, वहां एक अमानव पुरुष (जो मानवी सृष्टि का नहीं) इन को ब्रह्म (शबल ब्रह्म=हिरण्यगर्भ) को पहुंचा देता है।

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति, स वायुमागच्छति । तस्मै स तत्र विजिहीते, यथार-

थचक्रस्य खं । तेन स ऊर्ध्व आक्रमते, स आदित्य मागच्छति । तस्मै स तत्र विजिहीते, यथा लम्बरस्य खं । तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते, स चन्द्रमस मागच्छति । तस्मै स तत्र विजिहीते, यथा दुन्दुभेः खं । तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते, स लोक मागच्छत्यशोक महिमं । तस्मिन् वसति शाश्वतीः समाः (बृह० १० । ५)

जब पुरुष (उपासक) इस लोक से चल देता है, तो वायु में आता है, वायु उस के लिये छेद वाला हो जाता है (अपने में से उसको निकलने के लिये जगह देता है) जितना कि रथ के पहिये का छेद होता है । उस से वह ऊपर चढ़ता है, वह सूर्य में आता है । तब सूर्य उस के लिये छेद वाला हो जाता है, जितना कि लम्बर * का छेद होता है । उससे वह ऊपर चढ़ता है, वह चन्द्रमा में आता है । चन्द्र उस के लिये छेद वाला हो जाता है, जितना कि दुन्दुभि का छेद होता है । उस से वह ऊपर चढ़ता है वह आता है उस लोक में, जहां न शोक है, न हिम (जड़ता) है, वहां वह हमेशह की बरसें रहता है ।

---

* लम्बर एक प्रकार का बाजा है ।

ब्रह्मलोक में पहुंच कर वह सारे लोकों में स्वतंत्र हो जाते हैं

अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषांसर्वेषुलोकेषु कामचारो भवति।

(छान्दो॰ ८।१।६)

अब वह जो यहां आत्मा को और इन सच्ची कामनाओं को पाकर इस लोक से चलते हैं, उनका सब लोकों में कामचार होता है (जहां चाहें विचरते हैं)।

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति, तेषामेवैष ब्रह्मलोक स्तेषांसर्वेषु लोकेषुकामचारो भवति। (छान्दो॰ ८।४।३)

केवल उन्हीं लोगों का यह ब्रह्मलोक है, जो इस ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य से ढूंढते हैं, उन की सब लोकों में स्वतन्त्रता होती है।

अणुः पन्था विततः पुराणो मांस्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव। तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः॥

(बृह॰ ४।४।८)

सूक्ष्म, फैला हुआ और पुराना मार्ग मुझे छुआ है, मैंने

ढूंढ पाया है, ब्रह्म के जानने वाले धीर पुरुष विमुक्त हुए इस मार्ग से स्वर्ग लोक को जाते हैं और (तब) इस से भी ऊपर * (जाते हैं)।

ब्रह्मलोक स्थानविशेष भी है और सारे विश्व में ओत प्रोत भी है। — जो ब्रह्मलोक सूर्य से ऊपर एक स्थान विशेष वर्णन किया है, वह वही तत्त्व है, जो तत्त्व हमारी बुद्धि है, यह ब्रह्मलोक सारे विश्व का जीवन है। सारा विश्व इसी में ओत प्रोत हो रहा है—

'कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्च' इति। 'ब्रह्मलोकेषु गार्गि!' इति।

(बृह० ३। ६)

प्रजापति (विराट्) लोक किस में ओत प्रोत हैं? ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) लोकों में हे गार्गि!

---

* ऊपर जो पाठ लिखा है, वह काण्व शाखा का है, इस की जगह माध्यन्दिन पाठ इस प्रकार है।

तेनधीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः'।

उस मार्ग से ब्रह्म के जानने वाले धीर पुरुष यहां से छूट कर (शरीर छोड़ कर) स्वर्ग लोक को उलांघ कर जाते हैं, अर्थात् यह मार्ग केवल स्वर्ग तक नहीं, उस से परे भी जाता है।

यह इस सारे विश्व के पीछे इस विश्व का जीवन. ब्रह्मलोक सर्वत्र एक रूप है, तथापि उस २ लोक की अपेक्षा से व्यष्टि रूप में अलग २ मान कर 'ब्रह्मलोकेषु=ब्रह्मलोकों में' यह बहुवचन ऊपर के पाठ की तरह अन्यत्र भी बहुधा प्रयुक्त. हुआ है, जैसे—

तान् वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्म-लोकान् गमयति । ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति ॥ (बृह० ६।२।१५)

उन विद्युत् वासियों के पास एक मानस पुरुष आता है, वह उन को ब्रह्मलोकों में ले जाता है । उन ब्रह्मलोकों में वे लम्बे बरसों के लिये बसते हैं ।

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परि-मुच्यन्ति सर्वे । [मुण्ड० ३ । २ । ६]

वह सारे मरने के समय ब्रह्मलोकों मे अमृत को भोगते हुए स्वतन्त्र हो जाते हैं ।

प्रकृति की इस अवस्था के अन्तर्यामी परमात्मा को शबलरूप में हिरण्यगर्भ वा सत्य (ब्रह्म) कहते हैं, और इसी लिये ब्रह्मलोक को हिरण्यगर्भलोक वा सत्यलोक भी कहते हैं । इस की उपासना का स्थान अधिदैवत में सूर्यमण्डल और अध्यात्म में दहनी आंख बतलाई गई है—

स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति। जयतीमाँल्लोकान् ॥ [बृह० ५।४]

वह जो इस बड़े, पूजनीय (हस्ती) और सब से पहले प्रकट होने वाले (प्रथमज) को सत्य ब्रह्म के तौर पर उपासता है, वह इन लोकों को जीतता है।

तद् यत्तत् सत्यम्, असौ स आदित्यः, य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः। [बृह० ५।४।२]

और यह जो सत्य है, वही वह आदित्य है, जो इस मण्डल (गोले) में पुरुष है, और जो दाईं आंख में पुरुष है।

मरने के निकट इसी सत्यब्रह्म के दर्शन की अभिलाषा को उपासक इस मन्त्र से प्रकट करता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।

(ईशा० १५, बृह० ५।१५)

सुनहरी पात्र (ज्योतिर्मण्डल) से सत्य (ब्रह्म) का मुख ढपा हुआ है, तू हे पूषन् उसे खोलदे कि मैं सत्य के स्वरूप का दर्शन करूं।

सो ब्रह्मलोक के विषय में यह दोनों बातें, कि वह सूर्य

से परे स्थान विशेष है, और सारे परिपूर्ण है, यह इस प्रकार अविरुद्ध हैं, कि प्रकृति की वह अवस्था जिस को महत्तत्व कहते हैं, वह सारे विश्व में व्यापक है, सब के हृदय में वही बुद्धिरूप से स्थित है, इस लिये यह सारे परिपूर्ण है, पर यहां यह अवस्था प्रकृति की दूसरी अवस्थाओं (स्थूल अवस्थाओं) के अन्दर लपेटी हुई है, और सूर्य से परे जो स्थान विशेष ब्रह्मलोक है, वहां यह अवस्था अपने वास्तव रूप में विना किसी बाहरी परदे के है । हां यह स्वयं परब्रह्म (शुद्धस्वरूप) के ऊपर परदा है, इस लिये उपासकजन यहां पहुंच कर उस के अन्दर शुद्ध स्वरूप के दर्शन करते हैं, और फिर वह सब लोकों में स्वतन्त्र हो जाते हैं। यही बात तैत्तिरीय (३ । १०) में इस प्रकार दर्शाई है 'जब वह (उपासक) इस लोक से चलता है, तो वह इस अन्नमय आत्मा को प्राप्त हो कर, इस प्राणमय आत्मा को प्राप्त हो कर, इस मनोमय आत्मा को प्राप्त हो कर, इस विज्ञानमय आत्मा (महत्तत्व=ब्रह्मलोक) को प्राप्त हो कर इस आनन्दमय आत्मा को प्राप्त हो कर कामान्नी और कामरूपी (कामनानुसार भोगों वाला और कामनानुसार रूप वाला) हो कर इन सारे लोकों में घूमता हुआ यह साम गाता हुआ वर्तता है * ।

शबलब्रह्म के उपासक देव कहलाते हैं। } देवो भूत्वा देवानप्येति, य एवं विद्वानेतदुपास्ते। (बृह० ४ । १ । २, ३, ४, ५, ६, ७)

---

* देखो पूर्व पृष्ठ ४१८ ।

वह देव बन कर देवों के पास पहुंचता है, जो ठीक २ जानता हुआ इस की उपासना करता है।

देवों का भोग अमृत है } स यं एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौति, एतदेवाक्षरꣳस्वरममृतमभयं प्रविशति, तत् प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति। (छान्दो० १।३।६)

वह जो इस प्रकार जान कर इस अक्षर (ओम्) को ऊंचे उच्चारण करता है (उपासता है) वह इसी अक्षर (अविनाशि), स्वर, अमृत, अभय में प्रवेश करता है, और इस में प्रवेश करके जिस अमृत वाले (पहले) देवता हैं, उसी अमृत वाला होता है।

यह अमृत स्थूल नहीं, किन्तु दृश्य का दर्शन मात्र है } न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति। (छान्दो० ३।६।१; १।७, १; १।८।१; १।९।१; १।१०।१)

एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति [१।६।३; १।७।३; १।८।३; १।९।३; १।१०।३]

देव न खाते हैं, न पीते हैं, इसी अमृत को देख कर तृप्त होते हैं।

(वह जो इस का उपासक है) इसी अमृत को देख कर वह तृप्त होता है।

देवों का नेत्र मन है } स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ।५। य एते ब्रह्मलोके ।६। [छान्दो० ८।१२]

सो वह इस दैव नेत्र-मन से इन कामनाओं को देखता हुआ आनन्द भोगता है।५। जो यह (कामनाएं) ब्रह्मलोक में हैं।

सो यह मन मुक्त पुरुषों के साथ रहता है, इसके द्वारा वह प्रकृति के दृश्यों को देखते हैं, और आत्मा के द्वारा परमात्मा (शुद्ध ब्रह्म) को देखते हैं। अर्थात् चेतन आत्मा अपने आप से अन्दर की ओर चेतनों के चेतन परमात्मा को देखता है, और बाहर की ओर प्राकृत दृश्यों को प्राकृत मन से देखता है। मन के सिवाय और कोई इन्द्रिय वा शरीर उस के साथ नहीं होता। ब्रह्मलोक में जाने वाले जब विद्युत् के स्थानों में पहुंच जाते हैं, तो उन को ब्रह्मलोक से वहां आकर ब्रह्मलोक में लेजाने वाला जो मानस पुरुष कहा है, वह इन्हीं ब्रह्मलोक वासी मुक्त पुरुषों में से एक होता है, क्योंकि उस के साथ केवल मन है, इस लिये उसे मानस पुरुष कहा है। और छान्दोग्य में इसी को अमानव पुरुष कहा है, क्योंकि ब्रह्मलोक वासी (मुक्त पुरुष) मनुष्य की तरह शरीर और इन्द्रियों से युक्त नहीं होते हैं। इसी लिये इनके

संकल्प से ही ब्रह्मलोक में पिता माता आदि का प्रकट होना दिखला आए हैं, क्योंकि यह कामनाएं भी उनकी मानस हैं।

ब्रह्मलोक से वह फिर वापिस नहीं आते हैं } ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते। न च पुनरावर्तते। [छान्दो० ८।१५]

ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, और फिर वापिस नहीं आता है।

एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते। [छान्दो० ४।१५।६]

इस (देवयान मार्ग) से जाने वाले इस मानव चक्र (मानुष जन्म की हेरा फेरी, वार २ जन्म) को वापिस नहीं आते हैं।

तेषां न पुनरावृत्तिः। [बृह० ६।२।१५]

उन की पुनरावृत्ति (वापिस लौटना) नहीं है।

पर यह वापिस न आने का नियम एक कल्प तक है,। } ऊपर जो यह कहा है, कि वह ब्रह्मलोक से फिर वापिस नहीं आते हैं, यह इस अभिप्राय से कहा है, कि जैसे चन्द्रलोक से इस पृथिवी पर फिर वापिस आते हैं, वैसे ब्रह्मलोक से वापिस नहीं आते, वह वहां हमेशह की वरसें रहते हैं। किन्तु महाप्रलय में न तो मनुष्यलोक (पृथिवी) रहता है न पितृलोक और न ही देवलोक। इसलिए ब्रह्मलोक में सदा बसने और वहां से यहां न आने से अभिप्राय उसी

हद तक है, जब तक यह लोक है। महाप्रलय में न यह पृथिवी-लोक होगा, और न यह ब्रह्मलोक। सब कुछ एक सलिलमय (अव्यक्त, अपनी असली प्रकृति के रूप में) होगा। सो ब्रह्म-लोक से वापिस न आने के प्रतिपादक वचन अपना अभि-प्राय महाप्रलय से वरे ही रखते हैं। किञ्च, इन वचनों की बनावट ही इस अभिप्राय को स्पष्ट प्रकट कर देती है। जैसे यह अनावृत्ति का वचन, चन्द्रलोक से जो आवृत्ति है, उस के प्रतिद्वन्द्व (मुकाबिले) में कहा गया है, इन दोनों मार्गों के फल में भेद दिखलाने के लिये, कि पितृयाण से जाने वाले तो वापिस लौट आते हैं, पर देवयान से जाने वाले वापिस नहीं लौटते, सदा वहीं रहते हैं। अब यह मुकाबिला महाप्र-लय से पूर्व ही हो सकता है, सो इस वचन का अभिप्राय भी उस से पूर्व न लौटने में ही है। किञ्च, मनुष्य का परम उद्देश्य मुक्ति है, वह जब तक पूरा न होले, तब तक लगातार मनुष्यलोक में वापिस आता रहता है, जब फिर उस का यह उद्देश्य पूरा हो गया, तो फिर यहां आने का कोई प्रयोजन नहीं रहा. इसी अभिप्राय को इन शब्दों में कहा है '**तेषां न पुनरावृत्तिः**' 'वह फिर वापिस नहीं लौटते हैं,'। हम स्वयं इस प्रकार के वचन प्रायः बोलते रहते हैं। जैसा कि एक विद्यार्थी जब तक किसी विद्यालय में पढ़ता है, तब तक यदि कोई उस का मिलने वाला आए, तो हम कहते हैं, वह दस बजे आएगा, अथवा यदि छुट्टी का दिन हो, तो कहते हैं, कल आएगा, और यदि अधिक छुट्टियां हों, तो कहते हैं, इतने दिनों के पीछे आएगा, पर यदि वह अन्तिम परीक्षा पास

करके चला गया है, तो फिर हम उस के आने की वावत उत्तर देते हैं, कि अब वह फिर वापिस नहीं आएगा। पर क्या कभी इस का यह अभिप्राय भी होता है, कि वह अगले जन्म में भी वापिस नहीं आएगा, नहीं, बल्कि इतना भी नहीं, कि वह कभी वापिस नहीं आएगा। क्योंकि यह हो सकता है, कि वह उसी दिन ही किसी और प्रयोजन से वहां आजाए, तथापि हम ऐसा कहते हैं। कि अब उसका आना हो सकता ही नहीं और हमारे कहने का अभिप्राय भी ऐसा नहीं होता कि अब उस का आना हो सकता ही नहीं इसी प्रकार ब्रह्मलोक से वापिस न लौटने का अभिप्राय भी यह नहीं है, कि वह प्रलय के अनन्तर भी यहां नहीं आते हैं।

उपनिषद् के वचनों से यह अभिप्राय स्पष्ट निकलता है।

छान्दोग्य (४।१५।६) में जो यह वचन है "एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते"='इस (मार्ग) से जाने वाले इस मानवचक्र को वापिस नहीं आते हैं।' यहां "मानवमावर्तं" के साथ जो 'इमं' यह विशेषण दिया है, अर्थात् मानवचक्र के साथ जो 'इस' यह पद लगाया है; इस का यही अभिप्राय है, कि वह इस वर्तमान मानवचक्र में वापिस नहीं आते। पर जब फिर नई सृष्टि हो कर नया चक्र आरम्भ होता है, तो फिर वापिस आते हैं। यदि यह अभिप्राय होता, कि वह दूसरे कल्पों में भी वापिस नहीं आते, तो ऐसा पाठ पढ़ते, कि वह मानवचक्र में वापिस नहीं आते, अथवा वापिस नहीं आते, न कि इस मानवचक्र में वापिस नहीं आते। 'इस' कहना तभी

सार्थक हो सकता है, यदि आवृत्ति का निषेध इसी कल्प के लिये हो।

इस प्रकार काण्वशाखा की बृहदारण्यक (६।२।१५) में जहां यह पाठ है ' तेषां न पुनरावृत्तिः '=उन की पुनरावृत्ति नहीं है। वहां दूसरी शाखा में 'तेषामिह न पुनरावृत्तिः' पाठ है अर्थात् उन की यहां (इस कल्प में) पुनरावृत्ति नहीं है। इस ' इह=यहां ' पद का तात्पर्य इस के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता कि यह उन के वापिस आने का निषेध इसी कल्प के लिये है।

' न च पुनरा वर्तते ' (छान्दो० ३।१५।१)

इस पर स्वामि शंकराचार्य लिखते हैं—

इस विषय में स्वामी शंकराचार्य और उन के टीकाकारों की भी यही सम्मति है।

" शरीरग्रहणाय पुनरावृत्तेः प्राप्तायाः प्रतिषेधात्, अर्चिरादिना मार्गेण कार्यब्रह्मलोकमभिसम्पद्य यावद् ब्रह्मलोकस्थिति स्तावत् तत्रैव तिष्ठति, प्राक् ततो नावर्तत इत्यर्थः "।

शरीर ग्रहण करने के लिये पुनरावृत्ति जो प्राप्त हुई है उस का निषेध कर देने से (यह अभिप्राय है कि) अर्चि आदि मार्ग से कार्य ब्रह्मलोक को प्राप्त हो कर जब तक ब्रह्म-

लोक की स्थिति है, तब तक वह वहीं ठहरता है, उससे पहले वापिस नहीं आता है, यह तात्पर्य है।

यहां यह जो शङ्का उत्पन्न होती थी, कि 'वापिस नहीं आता है' का यह अभिप्राय कैसे समझा जाए, कि प्रलय से पहले वापिस नहीं आता है, यह क्यों नहीं, कि वह वापिस ही नहीं आता है, इस के समाधान के लिये स्वामि शंकराचार्य ने कहा है, प्राप्तायाः=प्राप्त हुई (अर्थात् पुनरावृत्ति जो प्राप्त हुई है, उस का यह निषेध है) इस से यह निषेध प्रलय से पूर्व वापिस आने का निषेध है। अभिप्राय यह है, कि निषेध किसी बात का तब किया जाता है, जब उसका होना प्राप्त हो। निषेध के बिना उस काम में प्रवृत्त होने का अथवा उस का उलटा समझने का सम्भव हो। यदि ऐसा न हो, तो निषेध निरर्थक हो जाता है, सो यहां भी पुनरावृत्ति का निषेध तभी सार्थक होगा, जब इस के बिना पुनरावृत्ति की आशङ्का होती हो। सो यहां पुनरावृत्ति की आशङ्का इस प्रकार हो सकती है, कि पितृयाण मार्ग से जाने वाले जैसे फिर पृथिवी पर वापिस आते हैं, क्या वैसे ही देवयान मार्ग से जाने वाले वापिस आते हैं, वा नहीं? ऐसी आशङ्का का होना ही पुनरावृत्ति की प्राप्ति है, इस प्राप्त हुई पुनरावृत्ति का निषेध उसी पुनरावृत्ति के मुक़ाबले में है, जो प्राप्त हुई है। अतएव यह निषेध इस अभिप्राय में है कि चन्द्रलोक से जैसे वापिस आते हैं, वैसे ब्रह्मलोक से वापिस नहीं आते। सो यह वापिस न आने का मुक़ाबिला प्रलय से वरे है, परे नहीं। यह आशय स्वामी शंकराचार्य का है।

आनन्दगिरि ने स्वामि शंकराचार्य के उक्त भाष्य पर यह टीका की है। 'शरीर ग्रहण के लिये पुनरावृत्ति जो प्राप्त हुई है' इस वचन के कहने से यह आशङ्का दूर करदी है, कि यह निषेध अप्राप्त का है। अभिप्राय यह है, कि चन्द्रलोक से जैसे पुनरावृत्ति होती है, वैसे ब्रह्मलोक से भी प्राप्त हुई जो पुनरावृत्ति है, उस का न च पुनरावर्तते से निषेध किया है, इस लिये यह अप्राप्त का प्रतिषेध नहीं। आनन्दगिरि का पाठ यह है—

अप्राप्तप्रतिषेधाशङ्कां वारयति। पुनरावृत्तेरिति। चन्द्रलोकादिव ब्रह्मलोकादपि प्राप्ता पुनरावृत्ति स्तस्या न चेत्यादिं प्रतिषेधान्नाप्राप्त प्रतिषेधप्रसक्तिरित्यर्थः।

'फिर 'प्राक्ततो' (नावर्तते)' पहले उससे (वापिस नहीं आता है) इस भाष्य पर लिखा है 'प्रागिति। महाप्रलयात् पूर्वकालोक्तिः, ततो ब्रह्मलोकादित्यर्थः'=पहले अर्थात् महाप्रलय से पहले; उससे अर्थात् ब्रह्मलोक से (वापिस नहीं आता है. अर्थात् महाप्रलय से पहले ब्रह्मलोक से वापिस नहीं आता है)॥ (आनन्दगिरि)

एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तते। (छान्दो० ४।१५।६)

इस वचन पर श्री शंकराचार्य का भाष्य यह है-

एतेन प्रतिपद्यमाना गच्छन्तो ब्रह्म इमं मानवं मनुसम्बन्धिनं मनोः सृष्टिलक्षणमावर्तं नावर्तन्ते-आवर्तन्तेऽस्मिन् जननमरणप्रबन्ध-चक्रारूढा घटीयन्त्रवत् पुनः पुनरित्यावर्तस्तं न प्रति पद्यन्ते ॥

इस मार्ग से ब्रह्म को जाने वाले मनु की सृष्टिस्वरूप इस हेरा फेरी में वापिस नहीं आते अर्थात् जन्म मरण के सिलसिले के चक्र पर चढ़ कर घटीयन्त्र की नाईं जिस में बार बार घूमते हैं, वह आवर्त (हेरा फेरी) है, उस आवर्त में नहीं आते हैं।

इस पर आनन्दगिरि ने यह टिप्पणी चढ़ाई है—

इममिति विशेषणादनिवृत्तिरस्मिन् कल्पे कल्पान्तरेत्वावृत्तिरिति सूच्यते ।

'इमं'=इस' (अर्थात् इस मानव आवर्त में, यहां जो इस पद है) इस विशेषण देने से यह सूचित किया है, कि इस कल्प में उन की आवृत्ति नहीं है, किन्तु दूसरे कल्प में आवृत्ति होती है।

फिर बृहदारण्यक के 'ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परा-

यतो वसन्ति, तेषां न पुनरावृत्तिः ' इस वचन पर श्री शंकराचार्य का यह भाष्य है—

ते तेन पुरुषेण गमिताः सन्त स्तेषु ब्रह्म लोकेषु पराः प्रकृष्टाः सन्तः स्वयं परावतः प्रकृष्टाः समाः संवत्सराननेकान् वसन्ति, ब्रह्मणोऽनेकान् कल्पान् वसन्तीत्यर्थः। तेषां ब्रह्मलोकं गतानां नास्ति पुनरावृत्तिः, अस्मिन् संसारे न पुनरागमनमिहेतिशाखान्तरपाठात्। इहेत्याकृतिमात्रग्रहणमिति चेच्छ्वोभूते पौर्णमासीमितियद्वत् । न, इहेति विशेषणानर्थक्यात्। यदि हि नावर्तन्त एवेहग्रहणमनर्थकमेवस्यात्। श्वोभूते पौर्णमासीमित्यत्र पौर्णमास्याः श्वोभूतत्वमनुक्तं न ज्ञायत इति युक्तं विशेषयितुम्, न हि तत्राकृतिः श्वःशब्दार्थो विद्यत इति श्वः शब्दो निरर्थक एव प्रयुज्यते। यत्र तु विशेषणशब्दे प्रयुक्तेऽन्विष्यमाणे विशे-

षणफलं चेन्नगम्यते तत्रयुक्तो निरर्थकत्वेनोत्स्रष्टुं विशेषणशब्दो नतु सत्यां विशेषणफलावगतौ, तस्मादस्मात् कल्पादूर्ध्वमावृत्तिर्गम्यते।

अर्थ-वे, जिन को मानस पुरुष ने ब्रह्मलोकों में पहुंचा दिया है, वे उन ब्रह्मलोकों में तेजस्वी बन कर अनेक बरस रहते हैं, अर्थात् ब्रह्मा के अनेक कल्प * वहां रहते हैं। वे जो ब्रह्मलोक को पहुंच गये हैं, उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती, अर्थात् इस संसार में † फिर आना नहीं होता, क्योंकि दूसरी शाखा में 'इह'=इस में' यह पाठ है (प्रश्न) यदि 'इह'=' इस संसार में' इस पद का अभिप्राय इस तरह के संसार में (नहीं आते हैं)' ऐसा लिया जाय, तो सदा के लिये पुनरावृत्ति का निषेध हो जाता है, अर्थात् वह इस (=ऐसे) संसार में वापिस नहीं आते, जिस (=जैसे) से गये हैं।

(उत्तर) यह ठीक नहीं; क्योंकि 'इह' यह विशेषण अनर्थक हो जाता है ‡। जहां जो विशेषण शब्द लगाया गया

---

*यहां कल्प से अवान्तर कल्प अभिप्रेत है (आनन्द०)

† प्रलय के पीछे जब फिर नया संसार होता है, तो उस में वह वापिस आजाते हैं।

‡ यहां 'श्वोभूते पौर्णमासीं यजते' इस वचन पर जो विचार है, वह अमीमांसक के लिये झमेले में डालने वाला जान कर अर्थ में छोड़ दिया है।

है, यदि उसका वहां कोई प्रयोजन न बन सके, तो वह विशेषण निरर्थक के तौर पर छोड़ा जा सकता है, पर जब विशेषण का प्रयोजन समझ में आता हो, तो उस को निष्प्रयोजन नहीं करना चाहिये । इस लिये इस कल्प के पीछे आवृत्ति (वापिस आना) पाई जाती है (अर्थात् 'इह' विशेषण से पाया जाता है, कि इस कल्प के पीछे आवृत्ति होती है) ।

सो यहां शंकराचार्य ने न केवल अपुनरावृत्ति को एक कल्प तक नियत किया है, किन्तु इस पर जो आशंका हो सकती थी, कि यह अपुनरावृत्ति सदा के लिये क्यों न मानी जाए, उस आशंका को उठा कर उस का खण्डन करके यह दर्शाया है, कि इस वचन से यह अभिप्राय निकलता है, कि कल्प के पीछे आवृत्ति होती है ।

उपासना से बढ़ कर ज्ञान का फल } ऊपर जो सूर्य द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति कही है, वह शबल ब्रह्म की उपासना और उस के साक्षात्कार का फल है । जब यह उपासक ब्रह्मलोक में पहुंचते हैं, तो फिर इन को अपने स्वरूप का साक्षात्कार होता है, और स्वस्वरूप के द्वारा शुद्धब्रह्म के दर्शन होते हैं । तब इन को शुद्ध और शबल दोनों के दर्शन में स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है, वह शुद्ध से शबल की ओर, और शबल से शुद्ध की ओर स्वतन्त्रता से आते जाते हैं, अर्थात् उधर वह परमात्मा को अपने निज शान्त अद्वैत रूप में भी देखते है, और इधर इस प्रकृति के अन्दर काम करता हुआ भी देखते हैं । उस के निजरूप को वह आत्मा से देखते हैं और

प्रकृति के साथ मिल कर प्रकृति में काम करता हुआ मन से देखते हैं। यही अवस्था उपासना से परे तत्त्व ज्ञान की है, इसी दर्शन का फल जो भोग (परमानन्द) है, वह मुक्ति है। यद्यपि ब्रह्मलोक में पहुंच कर यह अवस्था अवश्य प्राप्त होती है, पर यहां भी इस लिये कोई रुकावट नहीं, यह कमाई का फल है, शबल ब्रह्म के दर्शन करने के पीछे जो लोग और सब ओर से निष्काम और केवल आत्मकाम हो जाते हैं। उन का आत्मा बाहर की ओर से हट कर ज्यूंही स्वरूप में अवस्थित होता है, उसी समय परब्रह्म के दर्शन करता है। तब उस को दोनों स्वरूपों में आने जाने के लिये स्वतन्त्रता हो जाती है, जैसी कि ब्रह्मलोक में जाकर होती है। ऐसा पुरुष जब मरता है, तो वह ब्रह्मलोक को नहीं जाता है, क्योंकि ब्रह्मलोक में पहुंच कर जो लाभ करना है, वह उसने यहीं लाभ कर लिया है, इस लिये वह शरीर छोड़ते ही उस ब्रह्मलोक में प्रवेश करता है, जिस में सारा विश्व ओत प्रोत हो रहा है, और उस में प्रवेश करके परम आनन्द को भोगता है। इस में यह प्रमाण हैं :—

परब्रह्म के जानने वाले शरीर के छूटते ही परम मुक्त हो जाते हैं।

योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। ६। तदेष श्लोको भवति यदा

सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' इति । तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत, एवमेवेदꣳशरीरꣳशेते । अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव ।७।

(बृह० ४ । ४)

वह, जिस को अब नई कोई कामना नहीं, और पिछली कामनाओं से निकल आया है और ब्रह्मलोक की सारी कामनाएं प्राप्त हो गई हैं, अब केवल आत्मा की कामना है, उस के प्राण (प्राण और इन्द्रिय) नहीं निकलते हैं, वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म को पहुंचता है ।६। इस पर यह श्लोक है 'जब वह सारी कामनाएं जो इस के हृदय में हैं, छूट जाती हैं, तब मर्त्य अमृत होता है यहां वह ब्रह्म को प्राप्त होता है' अब जैसे सांप की कैंचुली मरी हुई और फेंकदी हुई बर्मी पर पड़ी रहे, इसी प्रकार उस का यह शरीर पड़ा रहता है और यह आत्मा शरीर से रहित हुआ अमृत प्राण (जीवन) है, ब्रह्म ही है, तेज (प्रकाश स्वरूप) ही है ।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुष मुपैति दिव्यम् ।

(मुण्ड० ३ । २ । ८)

जैसे नदियें बहती हुईं समुद्र में जाकर अपना नाम रूप खोकर लीन हो जाती हैं, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष नाम और रूप को त्याग कर परे से परे जो दिव्य पुरुष है, उस को प्राप्त होता है ।

एष सम्प्रसादो ऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योति रुपसम्पद्य स्वेन रूपणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः । (छान्दो० ८।१२।३)

यह निर्मल हुआ आत्मा इस शरीर से उठ कर परम-ज्योति को प्राप्त हो कर अपने असली रूप से प्रकट होता है, यह उत्तम पुरुष है ।

दोनों अवस्थाओं में मुक्ति के स्वरूप में कोई भेद नहीं ।

शुद्ध ब्रह्म के दर्शन चाहे यहीं हों, वा ब्रह्मलोक में जाकर हों, इस से मुक्ति के स्वरूप में कोई भेद नहीं आता । दोनों ही आत्मा में स्थित हो कर आत्मा से परमात्मा को देखते हैं, और मन से बाहर के दृश्यों को देखते हैं । शुद्ध से शबल की ओर और शबल से शुद्ध की ओर जाने आने में दोनों की स्वतन्त्रता हो जाती है. और दोनों की यह स्वतन्त्रता महा कल्प तक होती है । भेद केवल इस अंश में है. कि उपासक देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक में पहुंच कर जिस अवस्था को प्राप्त करते हैं, ज्ञानी जन उस को यहीं प्राप्त कर लेते हैं, उन को कोई मार्ग पार करना शेष नहीं रहता ।

मुक्ति के विषय में स्वामी शंकराचार्य से हमारा भेद क्या है। } ब्रह्मलोक से अनावृत्ति के विषय में हम ने स्वामी शंकराचार्य की सम्मति अपने साथ दिखलाई है।

पर उन का दूसरा सिद्धान्त यह है, कि जब पुरुष शुद्ध ब्रह्म के दर्शन कर लेता है, तो ब्रह्मरूप ही हो जाता है, पहले भी वह ब्रह्मरूप ही था केवल अपने आप को भूला हुआ था, जब उस ने अपने आप को पहचान लिया, तो वह ब्रह्म ही हो गया, जैसा कि कहा है—

सयो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद, ब्रह्मैव भवति। (मुण्ड० ३ । २ । ९)

वह जो उस परब्रह्म को जानता है, ब्रह्म ही हो जाता है।

सो जब उक्त ज्ञानी गया ही कहीं नहीं, तो आएगा किस से ? जब उसने पाया ही कुछ नहीं, तो छोड़ेगा क्या ? यह तो केवल उस की भूल थी, जो अब दूर हो गई है, अब न आना है न जाना है। शंकराचार्य के इस सिद्धान्त से हमारा भेद यह है, हम मुक्ति के विषय में उपनिषदों का यह तात्पर्य समझते हैं, कि मुक्ति में आत्मा ब्रह्म में मग्न हो जाता है, पर वह ब्रह्म ही नहीं हो जाता, न हो सकता है।

हमारे पक्ष में उपनिषदों के प्रमाण } (१) उपनिषदों में यह बात स्पष्टतया कह दी है, कि परम ब्रह्म को देखने वाला ब्रह्म के परम सदृश हो जाता है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।

(मुण्ड० ३ । १ । ३)

जब यह देखने वाला (द्रष्टा पुरुष) उस सुनहरी रंग वाले, कर्तार, ईशं (मालिक) पुरुष (सारे विश्व में परिपूर्ण) ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) के योनि (चश्मे) को देखता है, तब वह विद्वान् पुण्य और पाप को झाड़ कर निरञ्जन (क्लेशों से बचा हुआ) हो कर परम तुल्यता को प्राप्त होता है ।

(२) वह ईश्वर को अपने से भिन्न देखता है—

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः । (मुण्ड० ३ । १ । २)

जब यह उस प्रियतम अपने से भिन्न ईश (हाकिम) को देखता है और इस की महिमा को देखता है, तब यह शोक से पार हो जाता है ।

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे । पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्त्व मेति ।

(श्वेता० १ । ६)

सब का जीवन और सब का आश्रय यह जो बृहन्त ब्रह्म चक्र है इस में यह हंस (जीव) घुमाया जारहा है। जब यह अलग आत्मा और उस के प्रेरने वाले को समझ लेता है, तब वह उस से प्यार किया हुआ अमृतत्व को प्राप्त होता है।

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चत्। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।

(श्वेता० १।१२)

इस को सदा ही अपने आप में स्थित जानना चाहिये इस से परे कुछ जानने योग्य नहीं है, भोक्ता, (जीव) भोग्य (प्रकृति और उस का कार्य) और प्रेरणे वाले (ईश्वर) को समझ कर (मुक्त होता है) यह सब ब्रह्म सम्बन्धि जो कहा है तीन प्रकार का है (भोक्ता, भोग्य और प्रेरक)।

(३) वह ब्रह्म को अपने आत्मा से देखता है—

यदात्मतत्त्वेनतु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः (श्वेता० २।१५)

जब वह यहां सावधान हो कर दीपक के सदृश आत्म-

तत्त्व से ब्रह्मतत्त्व को देखता है, जो अजन्मा है, अटल है और सब तत्त्वों से शुद्ध है, तब उस देव को जान कर वह सारी फांसों से छूट जाता है।

(४) वह मुक्त हो कर ब्रह्म को प्राप्त होता है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा ये अस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते। (कठ० ६। १४)

जब यह सारी कामनाएं जो इस के हृदय में रहती हैं, छूट जाती हैं, तब मर्त्य अमृत हो जाता है, यहां वह ब्रह्म को प्राप्त होता है।

(५) वह मुक्त हो कर ब्रह्म के साथ सारी कामनाओं को भोगता है—

ब्रह्म विदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान्। सह ब्रह्मणा विपश्चिता। (तै० १। २)

ब्रह्म को जानने वाला पर (ब्रह्म) को प्राप्त होता है। इस पर यह (ऋचा) कही गई है—

वह जो उस ब्रह्म (पर न कि अपर) को जानता है, जो सत्य (सदा एकरस वर्तमान) ज्ञान (चेतनस्वरूप)

और अनन्त है, और (हृदय की) गुफा में परम आकाश (हृदयाकाश) में छिपा हुआ है, वह (जानने वाला) सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ सारी कामनाओं को भोगता है।

इत्यादि प्रमाणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि मुक्ति में वह ब्रह्म के सदृश हो जाता है, ब्रह्म को अपने से अलग देखता है, और उसके साथ वह सारी कामनाओं को भोगता है। अब जो यह वचन पाया जाता है 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' इस का आशय भी उन के साथ मिलना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये, कि किसी के सदृश होना यह अलग २ दो पदार्थों में ही कहा जा सकता है, एक में कभी नहीं; इसलिये मुण्डक में जो यह वचन है, कि 'परमं साम्य मुपैति'= परम तुल्यता को प्राप्त होता है, यह वचन कभी कहा जा ही नहीं सकता, जब तक कि दोनों अलग २ न हों, सो यह वचन मुक्ति में भेद माने विना किसी प्रकार सार्थक हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार तैत्तिरीय का यह वचन 'सह ब्रह्मणा' ब्रह्म के साथ। यह भी दो माने विना सार्थक नहीं होगा इत्यादि। अब रहा अभेद का वचन, सो ऐसे वचन एकता में भी कहे जाते हैं और तुल्यता में भी कहे जाते हैं, जैसे असली राजा के लिये भी कहा जाता है, कि यह राजा है, और जिस का ऐश्वर्य और बल बड़ा है, और आज्ञा अप्रतिहत है, उस के लिये भी कहा जाता है, यह राजा ही है, इसी प्रकार यह मेरा भाई ही है, यह ऋषि ही है, इत्यादि वचन कहे जाते हैं। यह केवल कहने की चाल है, तात्पर्य यही है, कि राजा के सदृश है, भाई के सदृश है, और ऋषि के सदृश

है, इसी प्रकार 'ब्रह्मैव भवति'=का तात्पर्य है, ब्रह्म के सदृश हो जाता है। बल्कि 'एव' अर्थात् 'ही' शब्द ही इस बात को स्पष्ट कर देता है, क्योंकि 'एव'=ही' बोला ही ऐसी जगह जाता है, जैसे यह राजा ही है इत्यादि। असली राजा को राजा कहने के लिए 'ही' के बल देने की जरूरत नहीं रहती।

छान्दोग्य (८।१२।१३) में तत्वज्ञान के साथ ही ब्रह्मलोक की कामनाओं का भोगना वर्णन किया है—

एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्यैति जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वायानैर्वा ज्ञातिभिर्वा।

यह निर्मल हुआ आत्मा इस शरीर से उठ कर परम ज्योति को प्राप्त हो कर अपने असली रूप से प्रकट होता है, यह उत्तम पुरुष है। यह वहां स्त्रियों के वा यानों के वा ज्ञानियों के साथ हंसता खेलता और आनन्द मनाता हुआ विचरता है।

सो यहां तत्वज्ञानी के लिये स्पष्ट शबल ब्रह्मलोक के भोग बतलाए हैं इस लिये दोनों की मुक्ति में कोई भेद नहीं है। किञ्च, इस खण्ड में शुद्ध ब्रह्मदर्शी को शबल ब्रह्मलोक के भोग दिखला कर १३ वें खण्ड के आरम्भ में ऋषि का यह

अनुभव इस बात को स्पष्ट कर देता है। 'श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये'=मैं श्याम से शबल को प्राप्त होता हूं, और शबल से श्याम को प्राप्त होता हूं, ॥ इसी लिये ब्रह्मलोक के आनन्द को ही परम आनन्द कहा है (बृह० ४।३।३३) और ओत प्रोत के सिलसिले को ब्रह्मलोक में ही समाप्त किया है। (बृह० ३।६)

उपसंहार } मुक्ति के विषय में उपनिषदों का जो सिद्धान्त यहां बतलाया है, वह सारे उपनिषदों में स्पष्ट पाया जाता है। वेदान्तदर्शन में इस पर सविस्तर लिखा है, इस लिये यहां इतना ही पर्याप्त समझते हैं। हम समाप्ति में यह ध्यान दिलाना चाहते हैं, कि मुक्ति के लिये जो साधन स्वीकार करते हैं, उन साधनों के विषय में सब की एक सम्मति है, उन साधनों को स्वीकार करो, उस का फल अपने आप जैसा है, वैसा ही मिल जाएगा। सो निश्चिन्त होकर साधन किये जाओ फल अपने आप आएगा।

इति शिक्षा समाप्ता: ॥

स्वामी ब्रह्मानंदजी.

सूचीपत्र

संस्कृत के अनमोल रत्न

अर्थात् वेदों, उपनिषदों, दर्शनों, धर्मशास्त्रों और इतिहास ग्रन्थों के शुद्ध, सरल और प्रामाणिक भाषा अनुवाद।

ये भाषानुवाद पं० राजाराम जी प्रोफैसर डी० ए० वी० कालेज लाहौर के किये ऐसे बढ़िया हैं, कि इन पर गवर्नमैन्ट और यूनीवर्सिटी से पं० जी को बहुत से इनाम मिले हैं। योग्य २ विद्वानों और समाचारपत्रों ने भी इनकी बहुत बड़ी प्रशंसा की है। इन प्राचीन माननीय ग्रन्थों को पढ़ो और जन्म सफल करो॥

(१) श्री वाल्मीकि रामायण—भाषा टीका समेत। वाल्मीकि कृत मूल श्लोकों के साथ २ श्लोकवार भाषा टीका है। टीका बड़ी सरल है। इस पर ७००) इनाम मिला है। भाषा टीका समेत इतने बड़े ग्रन्थ का मूल्य केवल ६।)

(२) महाभारत—इस की भी टीका रामायण के तुल्य ही है। दो भागों में छपा है। प्रथम भाग ६॥) द्वितीयभाग ६।) दोनों भाग १२)

(५) भगवद्गीता—पद पद का अर्थ, अन्वयार्थ और व्याख्यान समेत। भाषा बड़ी सुपाठ्य और सुबोध। इस पर ३००) इनाम मिला है। मूल्य २।), गीता हमें क्या सिखलाती है मूल्य ।-)

गीता गुटका—सरल भाषा टीका समेत ॥)

(६) ११ उपनिषदें—भाषा भाष्य सहित—

१—ईश उपनिषद	≡)	७—तैत्तिरीय उपनिषद	॥)
२—केन उपनिषद	≡)	८—ऐतरेय उपनिषद	≡)
३—कठ उपनिषद	।≡)	९—छान्दोग्य उपनिषद	२।)
४—प्रश्न उपनिषद	।)	१०—बृहदारण्यक उपनिषद	२।)
५,६—मुण्डक और माण्डूक्य दोनों इकट्ठी	।=)	१२—श्वेताश्वतर उपनिषद	।-)
		११—उपनिषदों की भूमिका	।-)